श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रकटितम्

प्रेमामृतम्

श्रीमत्प्रभुचरणविरचितव्याख्योपेतम्

परिशिष्टे

१. श्रीपरिवृढाष्टकस्तोत्रं सव्याख्यम्

२. 'भावैरंकुरितं' श्लोकस्य श्रीहरिरायाणां व्याख्या



श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-
नित्यलीलास्थित-गोस्वामिश्री १००८-
श्रीव्रजनाथलाल-महाराजश्रीत्येषां-
स्मृतौ-तदात्मजैः-गोस्वामि-
श्री १००८ श्रीमुरलीधरलाल-
महाराजश्रीत्येतैः-प्रकाशितम्



वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०३

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रकटितम्

प्रेमामृतम्

श्रीमत्प्रभुचरणविरचितव्याख्योपेतम्

परिशिष्टे

१. श्रीपरिवृढाष्टकस्तोत्रं सव्याख्यम्

२. 'भावैरंकुरितं' श्लोकस्य श्रीहरिरायाणां व्याख्या



श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-
नित्यलीलास्थित-गोस्वामिश्री १००८-
श्रीव्रजनाथलाल-महाराजश्रीत्येषां-
स्मृतौ-तदात्मजैः-गोस्वामि-
श्री १००८ श्रीमुरलीधरलाल-
महाराजश्रीत्येतैः-प्रकाशितम्

वि. सं. २०३६

प्रकाशक :

गोस्वामीश्री १००८, श्रीमुरलीधरलाल महाराज,

५०, गंगा निवास, स्वामी विवेकानन्द रोड,

बोरिवली (प.) बम्बई। ४०० ०९२ भारत

साधारण संस्करण १००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्दा : ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :

वी. वरदराजन

एसोसिएटेड एडवर्टाइजर्स एण्ड प्रिंटर्स

५०५ तारदेव, आर्थर रोड,

बम्बई, ४०००३४.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीव्रजनाथलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

वल्लभ सम्प्रदायकी परम्पराके अनुसार प्रेमामृत स्तोत्र श्रीमद्-वल्लभाचार्य महाप्रभुको गोवर्धनगिरिकी शिलापर लिखा हुआ मिला था, जिसे भगवदाज्ञानुसार उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभुको प्रदान किया था। परवर्ती कालमें गौड़ सम्प्रदायमें यह स्तोत्र श्रीचैतन्य महाप्रभु-की कृतिके रूपमें ही मान्य हो गया। जो भी हो स्वयम् श्रीविठ्ठल-नाथ प्रभुचरण द्वारा इस स्तोत्रपर व्याख्या प्रकट करना, इस स्तोत्रकी श्रीमहाप्रभुकी अन्य कृतियोंके तुल्य महत्ताकी पुष्टि है।

श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रम् जैसे भागवतोक्त सर्गादि दशविध लीला-ओंके मननार्थ भगवन्नामोंका संकलन है, या जैसे त्रिविधनामावली भागवतके दशम स्कन्धमें वर्णित श्रीकृष्णकी लीलाओंके मननार्थ भगवन्नामोंका संकलन है, वैसे ही प्रेमामृत स्तोत्र दशम स्कन्धके अन्त-र्गत तामसफल–प्रकरणकी लीलाओंके मननार्थ भगवन्नामोंका संकलन है। ये वे नाम हैं जो कृष्णविरहके निःश्वासके साथ श्रीराधाके मुख-कमलसे परागकी तरह निःसृत हुए हैं!

इन नामोंके ग्रहण चिन्तन मनन या पठन के सच्चे अधिकारी वे ही भक्त हैं, जिनकी लौकिक विषयोंमें आसक्ति क्षीण होकर श्रीकृष्णमें अनन्य आसक्ति दृढ़ हो गई हो। अन्यथा श्रीमत्प्रभुचरण सुस्पष्ट शब्दोंमें विधान करते हैं– "प्रार्थये रसिकाः स्वैरं पश्यन्त्विद-महर्निशम्। एतद्रसानभिज्ञस्तु माद्राक्षीदपि वैष्णवः"।

इस ग्रन्थके परिशिष्टके रूपमें श्रीमहाप्रभुविरचित श्रीपरिवृढ़ाष्टक, जिसपर श्रीगोपेश्वरजीकी व्याख्या उपलब्ध होती है, भी प्रकाशित हो रहा है। यह श्रीनाथ–श्रीगोवर्धननाथकी व्रजलीलाओंमें रति

जगानेवाला ग्रन्थ है। यह भी प्रेमामृतकी तरह फलप्रकरणकी लीलाओंके वर्णनपर ग्रन्थ है।

द्वितीय परिशिष्टमें श्रीमत्प्रभुचरणविरचित "भावैरंकुरितम्" श्लोककी श्रीहरिरायजीकृत व्याख्या प्रकाशित हो रहीं है। भक्तिवर्धिनी में जो (१) बीजभाव (२) प्रेम (३) आसक्ति तथा (४) व्यसन यों चार अवस्थायें भक्तिकी दिखलायी गयी हैं, उसकी सात अवस्थाओंमें व्याख्या यहां की गयी है: (१) भाव (२) प्रेम (३) प्रणय (४) स्नेह (५) राग (६) अनुराग (७) व्यसन। इन्हे क्रमशः अंकुर, कन्दल, शाखा, पल्लव, कलिका, प्रसून तथा फल रूप माना गया है।

इनका प्रथम संस्करण वि. सं. १९७५ में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत संस्करण उसीका ऑफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है। उक्त प्रथम संस्करणके सम्पादक–प्रकाशक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजलाल सांकलिया। इस पुन: प्रकाशन के अवसर पर इन महानुभावोंका हम कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं।

प्रस्तावना।



१. आ संग्रहमां प्रेमामृत तथा परिवृढाष्टक एम बे ग्रन्थरत्ननुं विवरणसहित मुद्रण कर्युं छे. प्रथम ग्रन्थ प्रेमामृत वा कृष्णप्रेमामृत छे. आ ग्रन्थ उपर श्रीमद्‌विठ्ठलेश्वरप्रभुचरण श्रीगुसांईजीए एक अतीव सुन्दर विवरण लख्युं छे. ते विवरण साथे 'प्रेमामृत' अहिं प्रकट कर्युं छे. आ प्रेमामृत-ग्रन्थमां मुख्य श्रीस्वामिनी श्रीराधाजीए विरहावस्थामां प्रभुना गायला नामोनो संग्रह छे. सांप्रदायिक गाथा एम छे के आ नामो श्रीगिरिराजजीनी शिला उपर कोतरेला हता. ते नामोनो संग्रह श्रीगुसांईजीए कर्यो अने उपर आपश्रीए अत्र मुद्रित करेलु सुन्दर विवरण योज्युं. श्रीप्रेमामृत ग्रन्थनो प्रचार गौड संप्रदायमां पण होवो जोइए. संवत् १७२७ वैशाख सुदि दशमीने मंगलवारे बलिराम नामना पुरुषना हस्ते लखेलो आ ज ग्रन्थ अमने प्राप्त थयो छे, तेमां इतिश्री आ प्रकारे छे, 'इति श्रीजगज्जीवनानन्दे चन्द्रश्रीकृष्णचैतन्यमुखपद्मविनिर्गते श्रीगोपीनायकनाथामृतलहरी संपूर्णा।' अर्थात् आज प्रेमामृत ग्रन्थनुं आ इतिश्रीप्रमाणे नाम श्रीगोपीनायकनाथामृतलहरी छे, अने तेनुं प्राकट्य श्रीकृष्णचैतन्यना मुखद्वारा थयुं छे. श्रीमत्प्रभुचरण 'राधागीतानि नामानि' एटलुं ज कहीने ग्रन्थना कर्तृत्वसंबन्धमां मौन राखे छे, अने 'इत्याह' एम ग्रन्थकारमाटे एकवचन प्रयोजे छे, एटले ए श्रीमदाचार्यजी श्रीवल्लभाधीश्वरनी कृति होवानुं संभवतुं नथी. आचार्यश्री जे ग्रन्थना कर्ता होय छे तेनी टीका लखती वखते श्रीगुसांईजी वगेरे सर्वथा बहुवचन प्रयोग करे छे. आ प्रकारे आ ग्रन्थना कर्तृत्वसंबन्धमां सन्देह छे. गौड संप्रदायमां श्रीस्वामिनीजीनु प्राधान्य प्रभु करतां विशेष मनाय छे. तेथी सामान्यरीते श्रीस्वामिनीजीना नामनुं गान श्रीप्रभु करे एम ते संप्रदायनु मर्म छे, तेथी आ ग्रन्थ जो उपर जणावेली इतिश्री प्रमाणे श्रीकृष्णचैतन्यकृत ज होय तो तेथी सूचन एटलुं ज थाय छे के उक्त ग्रन्थना प्राकट्यमां श्रीमदाचार्य श्रीवल्लभाधीश्वरनी श्रीचैतन्य उपर असर छे. गमे तेम हो परन्तु आ ग्रन्थ श्रीमदाचार्यकृत तो नथी लागतो. आ ग्रन्थना विवरणमां श्रीगुसांईजी कोई अन्यना आ ग्रन्थ उपर करेला व्याख्याननने दूषण आपे छे. आचार्यजीनो ज जो आ ग्रन्थ होय तो एवो अन्य टीकाकार कोण होइ शके ? एवो टीकाकार आ संप्रदायमां सर्वथा अज्ञात रहे ए संभवतुं नथी. आ ग्रन्थमां श्रीराधानुं नाम प्रायः प्रधान छे, श्रीमदाचार्यचरण निज ग्रन्थोमां राधा-नामनो प्रयोग करता दिशता नथी, परन्तु ज्यां ज्यां प्रसंग आवे छे त्यां त्यां शास्त्रीय मुख्य शक्ति, वा मुख्य स्वामिनी वा लक्ष्मी इत्यादि शब्दो प्रयोजे छे. आ कारणथी पण आ ग्रन्थना श्रीमदाचार्यजीना कर्तृत्वविषे संदेह थाय छे. श्रीमत्प्रभुचरण श्रीगुसांईजीए श्रीजयदेवना गीतगोविन्दनी अष्टपदी तथा रामानुजीय वेदान्ताचार्यना न्यासादेश उपर विवरण योजेला प्रसिद्ध छे. तेथी क्वचित् जो आ ग्रन्थ श्रीकृष्णचैतन्यनो ज होय अने तेनी स्वाभाविक सुन्दरताने लीधे आपे विवरण योज्यु होय तो ते सर्वथा असंभवित तो कही शकाय एम नथी. गमे तेम हो परन्तु आ ग्रन्थ परम रमणीय छे अने श्रीगुसांई-जीना विवरणथी आ ग्रन्थ पुष्ट थयलो होवाथी एनी रमणीयतामां अने भगवदीयतामां कांइक ऑर वधारो थयो छे. आना पाठमां अधिकार तेवा भाग्यवान् संसारासक्तिरहित प्रभुप्रेममां मुग्ध भगवदीयोनो ज छे. आ ग्रन्थादिना वाचनादि करनारे श्रीमत्प्रभुचरणनी आज्ञानुं अनुसंधान अवश्य करवुं.

'प्रार्थये रसिकाः स्वैरं पश्यन्त्विदमहर्निशम् ।
एतद्रसानभिज्ञस्तु मा द्राक्षीदपि वैष्णवः ॥'

२. प्रेमामृतग्रन्थनुं प्राकट्य तृतीय पीठाधीश्वर नित्यलीलास्थ श्रीमद्‌बालकृष्ण-लालजीना स्मरणार्थ नटपुरना वैष्णवोद्वारा थयुं छे. आ ग्रन्थनुं मुद्रणखर्च नटपुरना वैष्णवोए अर्प्युं छे.

३. श्रीप्रेमामृतविवरणनुं मुद्रण चार पुस्तकोना आधारे थयुं छे. १. प्रथम पुस्तक नटपुरस्थ डाहीलक्ष्मी पुस्तकालयस्थ शास्त्री भाइलालना संग्रहमांथी रा. रा. तनसुखराम मनःसुखराम त्रिपाठी एओनी कृपाथी प्राप्त थयलुं. आ पुस्तक बहु सुन्दर प्राचीन तथा प्रायः शुद्ध छे, परन्तु केटलेक स्थले पंक्तिओ लेखकदोषथी त्रुटित छे. २. आ पुस्तक पंडित गट्टूलालाना संग्रहमांनुं. आ पुस्तक पण प्रायः शुद्ध छे. एमां प्रथम पत्र नथी. ३. आ पुस्तक भगवद्धर्मपरायण शास्त्री कल्याणजीए आप्युं छे. आ पुस्तक प्राचीन तथा प्रायः शुद्ध छे. ४. आ पुस्तक भगवद्धर्मपरायण मनमोहनदास दलपतराम दलाल बी. ए., एमणे आपेलुं. आ पुस्तक नूतन छे. मनमोहनदासभाइए निजपठनार्थ उक्त पुस्तक पोताने हस्ते लखीने शोधेलुं छे. आ पुस्तकनी प्रेसकॉपी नटपुरस्थ चम्पुलाल चुनीलाल शाह एमणे करी आपी हती. आ सर्वनो उपकार अमे स्वीकारीए छीए.

१ द्वितीय ग्रन्थ श्रीपरिवृढाष्टक छे. आ सुन्दर स्तोत्रना द्रष्टा श्रीमदाचार्यजी छे. एना उपर मात्र एक टीका प्राप्त थाय छे. आ टीकामां तत्कर्ता सर्वविद् योगिश्रीमद्गोपेश्वरजीनुं पांडित्य प्रतिपंक्ति प्रकाशे छे. योगिश्रीगोपेश्वरजी संप्रदायमां श्रीपुरुषोत्तमजी पछी थयला धुरन्धर विद्वान् छे. एओश्रीनो प्रादुर्भाव १८३६ ना ज्येष्ठ शुक्ल पंचमीने दिवसे थयो हतो, अने छेक आ शतकना आरंभमां पण भूतलने अलंकृत करता हता. एओश्रीए घणा ग्रन्थो सिद्ध कर्या छे. श्रीमदणुभाष्यना श्रीपुरुषोत्तमजीना भाष्यप्रकाश उपर टीकारूपे महान् रश्मि ग्रन्थ प्रकट कर्यो छे. आ रश्मिजी एओश्रीना हस्ताक्षरनो अमारी पासे हालमां प्रभुकृपाथी बिराजे छे. आ महान् ग्रन्थनुं पूर लगभग ५०००० श्लोकनुं छे, अने ए ग्रन्थ पूर्ण थयो त्यारे श्रीगोपेश्वरजीनुं वय ६० वर्षनुं थयुं हतुं. आवा परम परिश्रमथी सिद्ध थयला ग्रन्थनुं रक्षण अने उद्धार करवानी प्रेरणा श्रीमदाचार्यचरण तद्वंश्योने अने तदनुयायी धनवान् वैष्णवोने करे एज प्रार्थनीय छे. आ सिवाय तैत्तिरीय संहिता उपर आपश्रीए नवार्थीनामनो विवरण ग्रन्थ योज्यो छे. एओश्रीनो भक्तिमार्तण्ड काशीमां रत्नगोपालभट्टे प्रकट कर्यो छे. भक्तिरत्न एक अन्य ग्रन्थ एओश्रीनो दृष्टिगोचर थाय छे. श्रीगोपेश्वरजीए परिवृढाष्टकनी टीका श्रीयदुनाथजीनी आज्ञाथी वा पाठान्तर प्रमाणे 'आग्रहथी' करी दिसे छे. श्रीयदुनाथजी ए एओश्रीना पितृचरण श्रीगोकुलोत्सवजीना पितृव्यचरण थाय. आ ग्रन्थमां प्रभुनी अष्ट वा सप्त प्रकारनी लीलाओनुं निरूपण श्रीमदाचार्यजीए कर्युं छे. आ स्तोत्रना प्रथम श्लोकनुं सुन्दर प्राचीन चित्र मुंबईना मोटा मंदिरवाला गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजी पासे बिराजे छे.

२. परिवृढाष्टकविवृतिना मुद्रणमां त्रण पुस्तकनुं साहाय्य मल्युं छे. प्रथम पुस्तक पंडित गट्टूलालाजीनी संस्थामांथी हरीच्छाथी प्राप्त थयुं हतुं. आ पुस्तकना आरंभना पांच अने अन्तिम पांच विनाना सर्व पत्र जीर्ण अने उधाइए खाधेला हता. पुस्तकनी शुद्धि पण साधारण छे. द्वितीय पुस्तक श्रीनाथद्वारस्थ वैष्णव केसरबाईनुं छे. ए पुस्तक अमने भगवद्धर्मपरायण शास्त्री अवलराम भूधरजीए आप्युं छे. आ पुस्तकमां व्याकरण विनानो भाग प्रायः शुद्ध छे. तृतीय पुस्तक कोटास्थ श्रीमन्मथुरेशजीना पुस्तकसंग्रहमांनुं छे. त्यांना मुख्याजी पंडित गोकुलदासजीनी कृपाथी प्राप्त थयलुं. आ पुस्तक शोधनमां ठीक उपयोगी थई पड्युं. आ टीकानुं पुस्तक मुद्रणमाटे भगवद्धर्मपरायण शास्त्री कल्याणजीए सहर्ष लखी आप्युं हतुं. आ सर्वनो उपकार अमारा उपर थयलो छे. आ विवरणना व्याकरणना शोधनमां निर्णयसागरना विद्वान् शास्त्रीजी वासुदेव लक्ष्मण पणशीकरनो अमारा उपर बहु ज उपकार थयो छे.

३. आ विवृतिनुं मुद्रणखर्च श्रीगोकुलेशचरणपरागानुरागी वैष्णव आंतरसुबाना मूल रहीश शा. छोटालाल दामीए कर्युं छे. तेमनो पण उपकार स्वीकारीए छीए.

मुम्बई,
पवित्रा एकादशी.
१९७५.

मूलचन्द्र तेलीवाला.
धैर्यलाल सांकलीया.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

प्रेमामृतम् ।

श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितविवरणसमेतम् ।

नमस्तारुण्यकैशोरलावण्यनिभृतात्मनोः ।
परस्परं प्रणयिनोर्गोपीमाधवयोर्दशे ॥ १ ॥
राधागीतानि नामानि मत्प्राणसदनान्यहम् ।
कथञ्चित्कालगत्यर्थं व्याख्यास्येऽत्र यथामति ॥ २ ॥

एतद्रसरसिकजनमनःसन्तोषार्थं राधिकोक्तनामानि प्रकटयितुं भूमिकां रचयन्नेव नामोत्थानप्रकारमाह **एकदेति** ।

एकदा कृष्णविरहाद्ध्यायन्ती प्रियसङ्गमम् ।
मनोबाष्पनिरासाय जल्पतीदं मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

यदा मानो बभूव कदाचिद्राधायास्तदनन्तरं भगवतापि मानापनोदनार्थं यत्ने कृतेपि तद्रसस्वाभाव्यान्न मानमत्यजद्भगवांश्च दूत्यादिप्रेषणेन संमाननार्थं निकुञ्जमगमत् स समय एकदेतिपदेनोच्यते । एतेन अधुनापि ताभिः सह भगवान् पूर्ववत् क्रीडतीति सूचितम् । तेनैकदाकृष्णविरहादिति समस्तं पदं ज्ञेयम् । परमानन्दविरहे युक्तमेव दुःखमिति ज्ञापनार्थं कृष्णपदम् । अत एव तद्विरहक्लेशस्तत्सङ्गमादेव गमिष्यतीति निश्चित्य तस्य च सपद्यभावेन तदपगमार्थं प्रियसङ्गमं ध्यातवती । एतदेवाह **ध्यायन्ती**तिपदेन । प्रीतेरेव दुःखहेतुत्वम्, प्रियस्यैव दुःखनिवृत्तिरिति ज्ञापनार्थं प्रियपदम् । यद्वा । भगवत एव प्रियत्वादन्यस्याप्रियत्वात्तद्ध्यानमेवाभून्नान्यस्येति ज्ञापनार्थं प्रियपदम् । यद्वा । प्रियसङ्गमं प्रियसङ्गमोपायं ध्यायन्तीत्यर्थः । एकदेति पदेन यदा काचित्सख्यपि नासीत् तदेत्यपि सूचितम् । तेन कुत्रचित्कथनस्याप्यभावेन मनस्येव बाष्पं पूर्णमभूत् । तन्निरासायेदमग्रे वक्ष्यमाणं स्वयमेव जल्पति । न तु कस्याप्यग्रे कथयतीत्यर्थः । स्वयमपि जल्पने तद्द्वारा बाष्पस्यापि बहिर्निस्सरणे किञ्चित्स्वास्थ्यमिव भवतीति तथा । जल्पनोक्त्या विकलत्वं सूच्यते । एकवारं जल्पिते तदनन्तरं मूर्च्छायां जातायां ततः कथञ्चित् जागरणे च सति

पुनर्जल्पतीति ज्ञापनार्थं मुहुःपदम् । वीप्सया जल्पितमूर्च्छाजागरणपुनर्जल्पितानामावृत्तिर्ज्ञापिता । सङ्गमसाधनत्वेनापि जल्पतीति ज्ञातव्यम् । यथा पञ्चाध्याय्यां गोपिकागीतम् ॥१॥

कृष्णः कृष्णेन्दुरानन्दो गोविन्दो गोकुलोत्सवः ।
गोपालो गोपगोपीशो वल्लवेन्द्रो व्रजेश्वरः ॥ २ ॥

जल्पितमेवाह **कृष्ण** इति । स्व्यर्थमेव प्रादुर्भूतो भगवान् कृष्णशब्दवाच्य इति । कृष्णपदार्थः क्वचिद्विवृतः, परमानन्दवाचकत्वेन च, 'कृषिर्भूवाचक' इत्यादिना तथा चास्मदर्थमेव प्रकटत्वेन परमानन्दत्वेन च नास्मद्दुःखं द्रक्ष्यतीति भावः । स्वरूपेण तथात्वमुक्त्वा धर्मैरपि तथात्वं वदन्ती स्वस्य तारकाभावं भावयन्ती तथेष्टत्वेन स्ववेष्टितभगवतो नामाह **कृष्णेन्दुरिति** । श्यामेन्दुत्वेनालौकिकत्वात् तारकाभूतानां गोपीनामपि तथात्वं[2] सूचितम् । तेन निष्कलङ्कत्वशश्वत्पूर्णत्वाह्लादकत्वादीनि सूचितानि । एवं धर्मधर्मिभावमुक्त्वा धर्मतामेवाहुः **आनन्द** इति । तथा च पूर्वं स्वार्थं प्रकटीभूय पूर्वविरहतापमिन्दुत्वेन शमयित्वानन्दपूर्णाः करोतीति नामत्रयेण क्रमेणोक्तमधुनापि तथैव कुर्विति भावेन पूर्वोक्तस्वार्थप्राकट्ये प्रमाणभूतं नामाह **गोविन्द** इति । इदं नामैव तत्र मानम् । (नामानन्तरमिन्द्रादिभिरस्मत्पतित्वेनाभिषिक्तः ।) अन्यथेन्द्रादिभिः स्वपतिर्भगवान् अस्मत्पतित्वेन कथमभिषिक्तः । अतोऽस्मान्परित्यज्य न लक्ष्म्यादिष्वपि भजनं भगवतो युक्तमिति भावः । किञ्च । पूर्वमिन्दुत्वनिरूपणेनाधुना चेन्द्रत्वनिरूपणेन यथेन्द्रभर्तृकायामेव दिशि चन्द्रोदयनियमः । तथा भगवतः श्रीगोपीजनवल्लभस्य गोकुल एव प्राकट्यम्, न मथुरादिष्वपीति सूचितम् । अपि च । चन्द्रोदयकार्यं हि मार्गादिप्रकाशः । अस्य चालौकिकत्वेनालौकिक एव स प्रकाशः । तादृशः सोऽतिदुर्लभो ब्रह्मादेरप्यस्मास्वेव भजनमार्गः प्रकटोऽभून्नान्यत्र । यद्यन्यत्रापि स्वयं प्रकटः स्यात् स्वमार्गमपि तत्र प्रकटयेन्नत्वेवमिति निगर्वः । तेन गोपदमुपलक्षकम् । तथा चोक्तम् 'इति गोगोकुलपदं गोविन्दमभिषिच्य से'ति । अतः परं स्वदुःखदर्शनाक्षमतायां हेतुभूतं नामाह **गोकुलोत्सव** इति । यो यत्रत्योत्सवरूपो यत्र येनोत्सवः स तत्रत्यं दुःखं कथं द्रक्ष्यतीति भावः । ननु सर्वेश्वरस्य कथं गोकुलमात्रेश्वरत्वमत आह **गोपाल** इति । स्वयं तादृशोपि पुरुषोत्तमोपि सन् गोपालरूपो यः स्वयमेव जातः । तेनास्मास्वेव पक्षपातो नान्यत्रेति ज्ञायत इति भावः । तेन गोपान् लाति आदत्ते आत्मीयतया स्वीकरोतीति तथेत्यर्थो ज्ञेयः । एवं सामान्यतो भगवतः स्वामित्वमुक्त्वा विशेषेणाह **गोपगोपीश** इति । गोपानां वयस्यानां गोपीनां चेशः स्वामीत्यर्थः । यद्वा । गोपसम्बन्धिन्यो या गोप्यो गोपभार्यास्तासामीशः स्वामीत्यर्थः । तेन न केवलं कुमारिकाणामेवेशः, किन्तु सर्वासामपीति भावः । स्त्रिय उक्त्वा वृद्धानाह **वल्लवेन्द्र** इति ।

---

१ दुःखनाशकत्वम् । २ अलौकिकत्वम् ।

वल्लवानां कुलवृद्धगोपानामिन्द्रः कुलदैवतमित्यर्थः । तदुक्तम् । 'वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धै'-रिति। अन्यथा तेषां वन्दनं न घटेत। अतःपरं कियदवधि गणना कर्तव्या । पशुतृणपर्यन्तस्य सर्वस्यैव व्रजेश्वर इत्याह **व्रजेश्वर** इति । ईश्वरो राजवन्नियामक इत्यर्थः । एतेन गोपेत्यादिनामत्रयेण गोकुले भर्तृत्वं पूज्यत्वं राजत्वं च भगवत एवेति । स्वस्य सर्वात्मना तदेकस्वामित्वसर्वाधिकगोकुलोत्कर्षौ सूचितौ । अन्यत्रै[1]तत्त्रितय[2]स्यैकत्राभावेन विभक्ततदी[3]यत्वकत्वात् । तेन व्यतिरेकालङ्कारोपि । यथा जगद्भगवन्निर्मितमिति जगदीश्वर इत्युच्यते भगवान्, तथा अयं सर्वोपि व्रजोनेनैव स्वरूपेण निर्मितो न साधारणनिर्मातृस्वरूपेणेत्यधिपादिपदेषु सत्स्वपीश्वरपदप्रयोगात् सूच्यते । तथा चोक्तं श्रीवाराहेण 'अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी'त्यादि ॥ २ ॥

ननु यद्येवं तदा स्वयमेव मिलिष्यति कदाचित्का त्वरेत्याशङ्कायामेव पूर्वानुभूतं किञ्चित् स्मृत्वाह **प्रत्यह**मिति ।

प्रत्यहं नूतनतरस्तरुणानन्दविग्रहः ।
आनन्दैकसुखस्वामी सन्तोषाक्षयकोशभूः ॥ ३ ॥

अहःशब्दोऽत्र दिवसवाची । तथा च सम्पूर्णरात्रिरमणेपि प्रातर्यदा भगवान् जिगमिषति, तदा यथा नूतनागतेऽभिलाषा ततोधिका सा भवतीति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । यद्यपि भगवतः प्रतिक्षणमपि तथात्वमेव, तथापि पूर्वोक्तसमयविरहभीरुत्वेन सर्वातिशयितस्यानुभवैकवेद्यस्य भावविशेषस्य जायमानत्वात्तथोक्तम् । तेन प्रतिक्षणं नूतनत्वं प्रत्यहं नूतनतरत्वमिति भावः । अहःशब्दः क्षणोपलक्षक एवेति केचित् । तन्न । मुख्यार्थोपपत्तौ गौणस्यायुक्तत्वात् । अव्ययप्रयोगेण सम्पूर्णरात्रिरमणेपि भगवति विरतिक्लमादयो व्यावर्तिताः । यत्र सङ्गमेप्येवं तत्र का वार्ता विरह इत्याशयः । अतःपरं क्लमाद्यभावे उपपत्तिमाह **तरुणे**ति । तरुणः पूर्ण इत्यर्थः । तेन गणितानन्दानामक्षरादेर्व्यावृत्तिः । तथा च तादृशः स एव विग्रहो यस्य स तथा । पूर्णत्वे वक्तव्ये यत्तारुण्यं निरूपितं तेन भगवतः स्वस्मिन्नेवानुरागः, प्राकट्यं चास्मदुपयोग्येवेति भावः सूचितः । भगवतः किशोरत्वेन तरुणीरमणसामर्थ्याभावशङ्का च परिहृता । एतेनैव भगवतो बाल्येपि गोपीभिः सह स्वच्छन्दरमणं सूचितम् । अत एव 'यर्ह्यम्बुजाक्षे'ति श्लोके 'त्वयाभिरमिता' इत्यन्यसमक्षमस्थितौ हेतुभूतं स्वविशेषणम् । न चाधुनिकमेव तत्तत्र हेतुः । तत्र चरणस्पर्शरमणयोरवधित्वहेतुत्वे तदा सम्भवतो यदि प्रथमदिवससञ्जातचरणस्पर्शसमानकालीनं रमणमपि स्यात् । तेन तयोस्तत्त्वान्यथानुपपत्त्यैव तथा मन्तव्यमिति निगूढाशयः । तत्सम्बन्ध्यपि तथैवेत्याह **आनन्दैके**ति । आनन्दोन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः । सुखमव्याप्यवृत्ति । तथा चानन्दरूपं यत्सुखं तत्स्वामी तदीश्वरस्तदुपभोक्ता तद्दाता चेत्यर्थः । एतेन भगवदीयं यत्किञ्चिदपि सुखं सर्वांशव्यापी-

१ गोकुलभिन्ने । २ भर्तृत्वं पूज्यत्वं राजत्वं च तस्य । ३ विभक्तभगवदीयकत्वात् ।

त्युक्तं भवति । अत एव भागवते वेदस्तुतौ 'महिमामृतसमुद्रविप्रुषे'त्युक्तम् । स्वामित्वेन भगवत एव तत्तथा, नान्यस्येति सूचितम् । भगवत्स्पर्शमात्रेपि स्वस्य स्वादिसत्ताज्ञानाभावेनैकपदप्रयोगः । तदुक्तम् । 'नीवीं प्रति प्रणिहिते च करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामी'ति तेन स्वस्योत्तमनायिकात्वं ज्ञापितम् । यद्वा । नामद्वयमिदम् । 'क्लेशोधिकतरस्तेषा'मित्यादिवाक्यैर्ब्रह्मानन्दस्यापि दुःखानुविद्धत्वदर्शनात्तस्मादप्युत्कृष्टमिदमित्येकपदेन सूचितम् । एतादृशमपि सुखं स्वामित्वादस्मभ्यमेव ददाति, नान्यस्मा इत्युक्तम् । स्वामीति नामान्तरेण दानोत्तरसमयं स्मृत्वाह **सन्तोषे**ति । सन्तोषस्य येऽक्षयकोशास्तद्भूरुत्पत्तिस्थानम् । भूत्वनिरूपणेन भगवतैव सन्तोषो नान्येनेति ज्ञापितम् । कोशत्वेनैकस्यापि भगवदीयस्यानेकविधसन्तोषाधायकत्वं सूचितम् । अक्षयत्वेनोत्तरोत्तरं सन्तोषेपि पूर्वपूर्वसन्तोषानुवृत्तिः सूचिता । एतेन नित्यलीलात्वं सूचितम् ॥ ३ ॥

एवं सन्तोषस्मरणे पूर्वानुभूतभगवज्जन्मसामयिकं सन्तोषं स्मृत्वाह **आभीरे**ति ।

आभीराभिनवानन्दः परमानन्दकन्दलः ।
वृन्दावनकलानाथो व्रजानङ्गनवाङ्कुरः ॥ ४ ॥

आभीराणां योभिनवः पूर्वाननुभूतजातीय आनन्दः, परमानन्दश्च तत्कन्दलस्तन्मूलकारणमित्यर्थः । इदमत्राकूतम् । नन्दगृहे पुत्रोभूदिति तैर्यदैव श्रुतं तदैव तेषां तादृश आनन्दः समजनि । येन प्रामाणिका वृद्धा अपि महान्तं नृत्यं कृतवन्तः । तथा च तादृशस्य तद्धेतोरन्यस्य पूर्वमज्ञातत्वेन तत्कालीनस्य[1] तस्याभिनवत्वम्[2] । तदनन्तरं पुष्टे भगवत्येतादृशोऽस्माकं स्वामी समभून्महद्भाग्यमस्माकमिति परमोतिशयित आनन्दोऽभूदिति तत्तथेति । यद्वा । पूर्वोत्तरपदयोः कर्मधारयो नामद्वयं वा । आभीराणां पूर्वोक्तानन्दरूप एव, स्वस्य[3] च तदर्थमेव[4] जातत्वात्तत्प्रतीक्षयैव चात्र स्थितत्वात्तस्मिन्प्रकटे जाते स्वस्य परमानन्दोभूदिति गोपिकानां परमानन्दकन्दल इति जन्मकालीनानन्दवाचकत्वमेव पदद्वयस्यापीत्युभयत्र समानम् । स्वयं कन्दलत्वं निरूपयन्त्यान्येषु पूर्वोक्तानन्ददातृत्वेनैव प्रकटो नास्मद्विषयरूपेणापीति सूचितम् । ततो बृहद्वनाद्वृन्दावनमागत्य सुखं दत्तवानिति क्रमेण तत्स्मृत्वाह **वृन्दावने**ति । वृन्दावनस्य कलानाथश्चन्द्र इत्यर्थः । यथा गगनैकदेशे सत्त्वेपि चन्द्रस्याखिलतत्प्रकाशकत्वम् । तथा भगवतोपि वृन्दावन इति सूचितम् । यद्वा । यदनुरञ्जनार्थं यन्नृत्यं तस्य स एव नाथः । तेनात्रापि वृन्दावने भगवदनुरञ्जनार्थमेव कलाः कोकिलादिकूजनमयूरादिनृत्यादय इति भगवानेव तन्नाथो राजवद्द्रष्टेत्यर्थः । यद्वा । वृन्दावनरूपा या कला तस्या नाथ इत्यर्थः । षोडशकलात्मको हि चन्द्रः । तेनास्य चन्द्रस्य पूर्वं श्यामत्वेन निरूपणात् वृन्दावनस्यापि तथात्वात् युक्तं कलानाथत्वमस्य । षोडशनाम्न्येतन्निरूपणेनैतस्यापि कलासु षोडशत्वं सूचितम् । तेन यथा पञ्चदशकलासु सत्स्वपि षोड-

---

१ जन्मकालीनस्य. २ आनन्दस्य. ३ स्वामिनीनां. ४ भगवदर्थमेव.

श्यभावे पूर्णव्यपदेशो न, तस्मिन्सत्येव तद्व्यपदेशस्तथेहापीति भावः । एतादृशो गोपीनामेव हृदयेस्ति, नान्यत्रापीत्याह **व्रजेति** । व्रजसम्बन्ध्यनङ्गकल्पतरोर्नवाङ्कुर इत्यर्थः । पूर्वं कामस्याङ्गराहित्येन भगवति प्रकट एव साङ्गत्वेन तस्य नवाङ्कुरत्वम् । एतेनानङ्गरूपत्वमेव भगवत उक्तम् । अत एव नवपदम् । अन्यथाङ्कुरपदेनैव चरितार्थता स्यात् । श्रीरघुनाथदत्तवर एव बीजम् । अनङ्गरूप एव नवाङ्कुरो हृदये समभूत् । ततः प्रत्यहं प्रेमरसेन सिच्यमानस्तत्रैव विततोऽभूदिति हृदयम् । अत्र व्रजपदेन व्रजस्था गोप्य उच्यन्ते । न हि गोपीव्यतिरिक्ते कस्मिन्नप्येतादृशकामसम्भवः । एतेन यदि भगवान स्वयमेवैतादृशकामरूपो हृदि प्रादुर्भवत्येतासामिव, तदा तेन कामेन भगवद्रमणम्, न लौकिकेन । नाप्ययं भावोन्यस्य सम्भवत्यपि विनैतादृशकृपामिति सूचितम् ॥ ४ ॥

तत्र हि पूर्वमङ्कुरः, ततः पुष्पफलादि, तेन प्रथममनङ्गरूपेणैवाङ्कुरतेत्यङ्कुरतामुक्त्वा पुष्पतामाह **नयनेति** ।

नयनानन्दकुसुमो व्रजभाग्यफलोदयः ।
प्रतिक्षणातिसुखदो मोहनो मधुरद्युतिः ॥ ५ ॥

नयनानां य आनन्दः स एव कुसुमं यस्य स तथा । एतेन भगवता विना नान्यस्मान्नयनानन्द इति सूचितम् । तथा च सन्ध्यायां यदा भगवानागच्छति तत्कालीनं स्मृत्वेदमुक्तमिति ज्ञेयम् । अत एव कुसुमरूपता । फलस्याग्रे भविष्यमाणत्वात् । अतः परं फलरूपतामाह **व्रजेति** । अत्र पञ्चमीबहुव्रीहिर्नोपादेयः । तद्व्यतिरिक्तस्य तादृशस्यासम्भवात् । किन्तु । व्रजभाग्यरूपफलरूपश्चोदयो यस्य स तथेति । उदयपदेन चन्द्रत्वं लक्ष्यते । तेन दिनसंजातविरहतापहारकत्वं सूचितम् । फलत्वं मुख्यं तापहरणं प्रासङ्गिकमिति ज्ञापनार्थं तथा निरूपितम् । तथा चोक्तं 'यदुपतिर्द्विरदराजविहार' इति श्लोके । यद्वा । वज्रपदेन व्रजस्था गोप्य एवोच्यन्ते । तथा च यदा रात्रौ सङ्केतस्थले भगवदुपभोगोपयोगिसर्ववस्तुसम्पन्नाः प्रतीक्षन्त्यो गोप्यो निजनिजस्थले तिष्ठन्ति, तदा भगवानकस्मात्प्रकटो भवति तत्रेतीमं समयं स्मृत्वेदमुक्तम् । अत एव फलत्वमुक्तम् । युक्तञ्च सन्ध्यायां पुष्पता, रात्रौ फलतेति । अत्रैवायमप्यर्थो ज्ञेयः । यत् व्रजस्य साधारणस्यैव भाग्यं तस्यापि फलरूप उदयो यस्येति । तत्कालीनोदयस्यासाधारणत्वात्तथा तत्त्वञ्च भगवति व्रजे भाग्यरूपे प्रकटेप्येतद्रसानभिज्ञत्वात् व्रजस्य तदापि प्रार्थनीयत्वयोग्यत्वम् । अस्य सर्वतोपि महत्त्वादिति हृदयम् । आगमनोत्तरसमयं स्मृत्वाह **प्रतिक्षणेति** । प्रतिक्षणं केवलसङ्गमसुखादप्यतिशयितसुखदातेत्यर्थः । तस्मादतिशयितत्वं परिरम्भणादिभिः । पूर्वपूर्वक्षणादुत्तरोत्तरक्षण एकस्मिन्नेव परिरम्भादावतिशयितसुखानुभावक इति तथा । यद्वा । प्रतिक्षणपदेन सङ्गमादिना प्रतिक्षणं संजातं सुखं लक्ष्यते । तथा च पूर्वोक्तावस्थायामत्युत्कण्ठितायास्तदा समागतमात्रस्यैव भगवतो दर्शनेन यत्सुखं तस्यानुभवैकवेद्यस्य

सर्वातिशयितत्वेनानुभवात्तादृशसुखद इत्युक्तमित्युदयसामयिकस्यैवेदं नाम । तदुत्तरस्य समयं स्मृत्वाह **मोहन** इति । तदैव विविधबन्धादिभिर्मोहन इत्यर्थः । सर्वांशेनैव तथेति न विशेषनिर्देशः । तेन यथैव मोहनं गोपीनां भवति तथैव करोतीति भावः । एवं मोहनोक्तौ मर्मस्पर्शेन मूर्च्छायां जातायां कथञ्चिज्जागरणे च जातेऽत्यार्त्या भगवदागमनस्यैव हृदिस्थत्वेन तदेव स्मृत्वाह **मधुरे**ति । भगवतस्तदा शृंगारं कृत्वा समागतत्वेन प्रकृत्यैव च तादृश्येव द्युतिरिति तथा । आगमनात्पूर्वमेव द्युत्यैवागमनज्ञानात् द्युतिनिरूपणम् । यद्वा । सर्वशक्तिपूर्णस्योदितकामस्य तेजसोऽसह्यत्वे साम्याभावात् रमणे कथं रसोत्पत्तिरित्यत आह **मधुरे**ति । कोटिसूर्याधिकतेजोवत्त्वेपि न सूर्यवत्कठिनत्वम्, अपि तु सर्वदैव मधुरत्वमित्यर्थः । यद्वा । यदा भगवानागमनमुक्त्वान्यत्र रात्रिं गमयित्वा प्रातरायात्यत्र, तदा मानवत्यां राधायां तादृशं मोहनं करोति, येन झटिति वशे भवतीति स्मृत्वोक्तं **मोहन** इति । तदैव सुरतचिह्नाङ्कितस्य विपर्यस्तवाससः अलसस्य मदनरणजयजनितस्मयघूर्णायमानरजनिजागरसरागनयनस्य सुस्मितमुखाम्भोजस्य द्युतिरतिमधुरेति मधुरद्युतित्वम् । यद्वा । रतिसमय एव जघनादिगतिलोलवपुषो द्युतिर्मधुरा मनोहरेत्यर्थः ॥ ५ ॥

अतः परं क्रमेणाधरसुधापानं स्मृत्वाह **सुधे**ति ।

सुधानिर्यासनिचयः सुन्दरः शीतलाकृतिः ।
नवयौवनसम्भिन्नश्यामामृतरसार्णवः ॥ ६ ॥

पूर्वोक्तानङ्गकल्पतरोः सुधारूपो यो निर्यासस्तन्निचयस्वरूप इत्यर्थः । यद्वा । सुधाया एव निर्यासः सार इति यावत् । तन्निचयभूत इत्यर्थः । यथा रसद्रव्यस्यैव दुग्धादेर्मथनेन तत्सारभूतो नवनीतचयस्तथेति हृदयम् । अधरामृते तस्मादधिकत्वं स्पष्टम् । अत एव मुरल्या वेणुरिति नाम । वश्च इश्च वयौ तावणू यस्मादिति वेणुपदार्थः । तत्त्वं चास्याधरसम्बन्धादेवेत्यधरस्यैवामृतकामरसाणूकरणसामर्थ्यमिति 'बर्हापीडे'ति श्लोके निरूपितम् । निर्यासत्वनिरूपणेनात्र सम्बद्धोत्रैव लग्नो भवति, नान्यत्रेति सूचितम् । तदुक्तम् । 'इतररागविस्मारणं नृणा'मिति । एवं मुख्यविशेषमुक्त्वा सामान्यतोनुभावकत्वमाह **सुन्दर** इति । सर्वांशेनैव तथेति न विशेषनिर्देशः । अत एव सर्वाङ्गे शास्त्रोक्ताश्चेष्टास्ताभिः क्रियन्ते । तेन सर्वासक्तिविषयत्वमप्यस्य[1] ध्वनितम् । तथात्वेपि[2] पुरुषसौन्दर्यं स्त्रीणामेवोपयोगीति विशेषतस्तासामेवासक्तिविषय इति तात्पर्यम् । एवं सौन्दर्योक्तौ तस्य प्रथमासक्तिहेतुत्वेन तत्स्मृतिरभूत् । तत्र च पूर्वं सुन्दरत्वेनासक्तौ जातायां पश्चाद्विरहेणात्यातुरतायां साक्षादप्राप्तौ चित्रेप्याकृतिदर्शनेन तादृशबाधकतापो व्यगमदित्याह **शीतलाकृति**रिति । यद्वा । अतिदुःखेनेषत्क्रुद्धाह **शीतले**ति । आकृतिः परं शीतला, न

---

१ भगवतः । २ सर्वासक्तिविषयत्वेपि ।

स्वयमित्यर्थः । प्रथमतः शीतलाकृतित्वेनान्तरप्येवमेव भविष्यतीति ज्ञात्वा प्रवृत्तायां स्त्रियां पश्चाद्यथाकथञ्चित्तां मारयत्येवैतच्च दृष्टं पूतनादाविति भावः । एतदेव 'भ्रमति भवानबलाकवलाये'ति गीतेप्युक्तम् । यद्वा, शीतलाकृतिः साधारणलोकप्रतीत्या कामादिरसानभिज्ञ इत्यर्थः । एकान्ते तु परमचतुर इति भावः । एतेन स्वस्य भगवतोपि निःशङ्का प्रवृत्तिर्दर्शिता । एवमाकृतेरपीष्टदातृत्वं निरूप्य वयसोपि तथात्वमाह **नवेति** । सम्भिन्नः संवलित इत्यर्थः । तेन वयःसन्धिरुक्ता । नवत्वेनानङ्कुरितकूर्चकत्वाद्प्रतिसमयेऽतिशयितसुखानुभावकभावजनकत्वमुक्तम् । तदुक्तम् । 'अनङ्कुरितकूर्चकः शृतसितोपलाढ्यं पय' इत्यादिना । तेन संवलितभावादिभिरप्यतिमोहन इति भावः । अधुना समुदितस्वरूपमात्रनिविष्टा तत्रापि वर्णमात्रस्यापि रसरूपत्वमित्याह **श्यामामृतरसार्णवेति** । यथा दुग्धादेः सितस्तथा श्यामरूपो योऽमृतस्य रसो मन्थनेनैव निर्गतस्तस्यापि सारभूत इति यावत् । तस्यैवार्णव इत्यर्थः । श्यामत्वोक्त्या प्रसिद्धसितसुधारसतोऽत्यलौकिकत्वं सूचितम् । तेन तत्स्थितनयनकुण्डलवदनरदकरचरणादीनामप्यलौकिकमीनमकरमणिकमलादित्वं रसस्य च निःसीमत्वमेतद्रसमग्नस्य पुनरनुत्थानं च ध्वनितम् । यद्वा । श्यामाः षोडशवार्षिक्यो गोप्यस्तत्सम्बन्ध्यमृतरसोऽधरामृतरस इति यावत् । सोर्णवो यस्मिन्नित्यर्थः । एतेनातिसरसासंख्यगोपीभोक्तृत्वमुक्तम् ॥ ६ ॥

एवं वर्णं निरूप्य विपरीते भगवति स्वप्रतिबिम्बं जातम् । तत्र चाकचक्यं स्मृत्वाह **इन्द्रेति** ।

इन्द्रनीलमणिस्वच्छो दलिताञ्जनचिक्कणः ।
इन्दीवरसुखस्पर्शो नीरदस्निग्धसुंदरः ॥ ७ ॥

इन्द्रनीलमणिवत् स्वच्छो निर्मल इत्यर्थः । तेन यथा मणिर्बहिरन्तरप्येकरूपस्तथा भगवानप्येकरस इति सूचितम् । गोपीजनवेष्टितस्य कनकजटितमहामणिशोभावत्त्वं च । निकटस्थवस्तुप्रतिबिम्बवतो मणेः सादृश्यनिरूपणेन स्वप्रतिबिम्बितत्वं सूचयन्त्यान्तर्भगवतो गोप्यात्मत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं भगवता 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यह'मिति, 'मयि ते तेषु चाप्यह'मित्यादि च । मणिदृष्टान्तेन यथा श्यामत्वेन सुन्दरत्वेनैवान्यलोकप्रीतिविषयो न तद्गुणज्ञपरीक्षकजनस्यैव । तथा भगवानपि सुन्दरादित्वेनैव तथा सर्वेषां न, किन्तु तत्स्थितरसिकशिरोमणित्वादिविदुषां गोपीनामेवेति सूचितम् । एवं रूपनैर्मल्ये निरूप्य क्रमेण चिक्कणतामाह **दलितेति** । दलितं घर्षितमित्यर्थः । तेन यथा स्नेहद्रव्येणैव कज्जलोत्पत्तिः, तथा भगवतोप्यस्मत्स्नेहेनैव प्राकट्यमिति सूचितम् । यद्यपि पुनः स्नेहादिदानेन घर्षितमेव कज्जलमञ्जनशब्दार्थस्तेन न पूर्वपदापेक्षात्र । तथापि तस्मादप्यतिचिक्कण इति ज्ञापनार्थं दलितपदम् । केवलकज्जलवाचकमेव वात्राञ्जनपदम् । अञ्जनदृष्टान्तेन यथा स्त्रीणामेव नयनभूषणार्थं तज्जन्म, तथा गोपीजनवल्लभस्यापि प्राकट्यमत्र गोपिकार्थमेवैतन्नयन एव स्थिर-

त्वमेतद्दुहिताया दुर्भगात्वं चेति सूचितम् । यद्वा । अञ्जनपदं गोपीनयनस्थाञ्जनवाचकम् । तथा च दलितं द्विधाकृतं नयनोपरितनाधस्तनरेखाभ्यामेतादृशं तदपि चिक्कणं येन स तथा । यदा भगवान् मिलति, तदैव तत्तथा । नोचेद्विरहतापेन सहजचिक्कणमपि तच्छुष्कमिव भवतीति तथोक्तम् । अत्रैव सादृश्यार्थोपि ज्ञेयः । तेन यथा सहजचिक्कणमपि तद्भगवतैव, तथा भगवानपि स्वरूपेणैव तथा, नतु स्नेहद्रव्योपरक्त्येति सूचितम् । यद्वा । नयनस्थमेव तदधरेण दलितं द्विधाकृतं तस्मात् स्वस्मिन्नानीतमिति यावत् । तादृशेन तेन चिक्कणो दृश्यः स्निग्ध इत्यर्थः । तेन प्रातरन्यगृहात्तथा समागतेपि न स्नेहाभावः, किन्तु स्निग्धत्वमेवेत्यपि ध्वनितम् । अथवा । कदाचित्प्रियं स्नापयन्ती प्रियाङ्गे जलबिन्दुमात्रमपि स्थिरं नापश्यत् । तत्स्मृत्वेदमुक्तवतीति । अत एवाग्रेङ्गप्रोञ्छनं कुर्वाणा सर्वाङ्गीणस्पर्शसुखमन्वभूदिति तत्स्मृत्वाह **इन्दीवरे**ति । इन्दीवरादपि सुखरूपः स्पर्शो यस्य स तथा । तेन सौगन्ध्यं रात्रौ सुखदत्वं चालौकिकत्वं च ध्वनितम् । यद्वा । इन्दीवरस्यापि सुखस्पर्शो येनेति । विरहे तस्यापि कठोरत्वोष्णत्वेनैव भानाद्भगवति मिलित एव सुकुमारत्वशीतलत्वेन भानात्तथात्वम् । यद्वा । इन्दीवरपदेन गोपीनयनानि लक्ष्यन्ते । तथा च तेषां सुखरूपः स्पर्शः सम्बन्धो यस्य स तथेत्यर्थः सम्पद्यते । एतच्च तदैव प्रोञ्छनानन्तरं सर्वासां सर्वाङ्गदर्शनेन सुखातिशयोभवदिति तत्स्मृत्वोक्तम् । तदनन्तरं कटिप्रदेशे सूक्ष्ममेव पीताम्बरं परिधाय स्थितं केशप्रसाधनं कारयन्तं स्मृत्वाह **नीरदे**ति । नीरदपदेनात्र वर्षन्मेघ उच्यते । तेन यथा सोन्तः स्नेहवांस्तप्तानां जीवनं नीरं ददाति । तथा भगवानपि विरहतप्तानां जीवनरूपाममृतदृष्टिं वर्षतीति तद्वदन्तःस्निग्धः तद्वत्सुन्दरो बाह्यतः पीताम्बरेण स विद्युद्घनशोभावानित्यर्थः । एतेन यथा वृष्टेः पूर्वमपि केवलं मेघदर्शनादपि तापनिवृत्तिस्तथा भगवत्कृपादृष्टेः पूर्वमपि भगवदागमनादेव सर्वतापनिवृत्तिरिति सूचितम् । यद्वा । नीरदे स्निग्धाः स्नेहवन्तो मयूरादयस्तैः कृत्वा सुन्दरस्तत्पिच्छधारणनृत्यकूजनाद्यनुकरणेन भगवति समागते मेघबुद्ध्या नृत्यन्तः कूजन्तश्चावृत्य तिष्ठन्तीति वा तथा । यद्वा । नीरदवत् स्निग्धो गिरा तद्वत्सुन्दरो वपुषेत्यभिप्रायः ॥ ७ ॥

तदनन्तरं सर्वाभिस्तिलकं विधाय चिबुकमारभ्य चरणतलपर्यन्तं चतुःसमेन लेपनं कृतमिति तत्स्मृत्वाह **कर्पूरे**ति ।

कर्पूरागरुकस्तूरीकुङ्कुमाक्ताङ्गधूसरः ।
सुकुञ्चितकचग्रस्तोल्लसच्चारुशिखण्डकः ॥ ८ ॥

एभिरक्तं यदङ्गं तेन कृत्वा धूसरत्वेन प्रतीतिविषय इत्यर्थः । पीतस्याङ्गरागस्येन्द्रनीलवपुषश्च दीधितयो यदा मिलिता भवन्ति, तदैकस्यापि रूपं पृथग्नाविर्भवतीति तथा प्रतीतिः, न तु स्वयं तथेति ज्ञेयम् । अक्तपदेनाङ्गरागस्य स्निग्धत्वं सूचितम् । एवमप्यतिसुन्दर इति ज्ञापनार्थं एतन्निरूपणम् । यद्वा । चतुःसमेनाक्तं यदेकमप्यङ्गं तेनैव पूर्वोक्त-

रीत्या धूसरेण सर्वाङ्गप्रतिबिम्बितेन कृत्वा सर्वांशेनैव तथा प्रतीतिविषय इत्यर्थः । अत एवाङ्गपदम् । वस्तुतस्तु चतुःसमे वक्तव्ये पृथक्पृथक् निरूपणेन काभिः कर्पूरम्, काभिरगरुर्घर्षितः, काभिः कस्तूरिका, काभिः कुङ्कममानीतमिति ज्ञायते । तथा च यैव समागच्छति सैव स्वीयं वस्तु सर्वाङ्गे, काचित् काचिदेकस्मिन्नेवाङ्गे समर्पयतीति तथा । ते(न) नैकरूप इत्यर्थः । (एतेन 'इन्द्रनीलमणी'त्यादिनामपञ्चकेनार्थकाममोक्षधर्मभक्तिरूपपञ्चपुरुषार्थरूपत्वं भगवत उक्तम् । अस्यैवात्र मुख्यत्वं, नान्येषामिति ज्ञापनाय व्युत्क्रमेण तेषां निरूपणम् ।) तदनन्तरमानखशिखं शृंगारः कृत इति स्मृत्वा तदेव निरूपयति **सुकुञ्चिते**त्यादिना । यद्वा । एवं समुदिते स्वरूपे निरूपितेपि अतिप्रचुरत्वेन तापस्यानपगमे प्रत्यङ्गवर्णनमकरोत् । तत्र यद्यपि भगवतः पुरुषत्वेन चरणमारभ्य वर्णनमुचितम् । तथापि तापहरणार्थमेतन्निरूपणेन पूर्वं दिनविरहतापं दूरीकर्तुं सन्ध्यायां यदा भगवानागच्छति तदा दूरतः प्रथममत्युच्चमुकुटस्यैव दर्शनम्, तत आननादेर्भवतीत्यधुनापि तथैवागत्य तापं हरत्वित्यभिप्रायेण मुकुटमारभ्य तापहारकमेव स्वरूपं वर्णयति **सुकुञ्चिते**ति । सुष्ठु कुञ्चिता ये कचास्तैर्ग्रस्त उच्चैर्लसंश्चारुर्मनोहरः शिखण्डो यस्य स तथा । केशानां कुञ्चितत्वेपि यस्य केशस्य यत्र स्थितस्य सुन्दरत्वं तत्रैव तस्य स्थितिरित्युपसर्गेण सूचितम् । शिखण्डस्य ग्रस्तत्वं तद्वलितमध्यपतितमूलत्वम् । मूले ग्रस्तोग्रतोपि ग्रासभियेवाग्रत उच्चैर्निर्गतो लसन् जातः शोभित इत्यर्थः । शोभितत्वोक्त्या शोभासाधनकुसुमगुञ्जामणिपल्लवादयः सूचिताः । अत एव चारुः सर्वेषां मनोहरः । एतादृशः शिखण्डको मयूरपिच्छकृतमुकुटं यस्येति वराङ्गवर्णनम् । रूपप्राधान्यवतः पिच्छस्य सर्वोच्चैर्धारणेनात्र भगवतोपि रूपस्यैव प्राधान्यं पुरुषार्थदानादौ, न तु माहात्म्यज्ञानमपीति[1] ज्ञापितम् । अत एव रूपग्राहकचक्षुष्मतामिदमेव फलमिति 'अक्षण्वता'मिति श्लोक एताभिरेव निरूपितम् । यद्वा । सुकुञ्चितपदेन केशवर्णनम् । कचग्रस्तपदेन कुसुमानाम्, उल्लसत्पदेन चाकचक्यवद्गुञ्जामणीनाम्, तथा चैभिश्चारुः शिखण्डो यस्येत्यर्थः । तेषां मुकुटावयवत्वेन तच्छोभाजनकत्वमेव मुख्यम्, न स्वातन्त्र्येण मुख्यतेति न पृथङ्नामनिर्देशः । शोभाजनकत्वं च कुञ्चितत्वादिधर्मैरेवेति तेषामुद्देशः । एतेनैतेषां क्रमोपि ज्ञेयः । प्रथमं कचः, तदुपरि तथाभूतानि कुसुमानि, तदुपरि गुञ्जाः, तदुपरि तच्चन्द्रिका इति ॥ ८ ॥

एवं मुकुटं निरूप्यालकपङ्क्तिस्थकर्णोपरिभागभूषणे वर्णयति **मत्ते**ति ।

मत्तालिविभ्रमत्पारिजातपुष्पावतंसकः ।
आननेन्दुजितानन्तपूर्णशारदचन्द्रमाः ॥ ९ ॥

मत्ता ये अलयः तैर्विभ्रमद्विलासं कुर्वदितस्ततः पतत्प(त)त्रं यत्पारिजातपुष्पं तस्यावतंसः कर्णाभरणं यस्य स तथा । एतद्रसेनैव मत्ता इति ज्ञेयम् । तथा च तेनैव मत्ता अपि तत्यक्तुमशक्तास्तदामोदलम्पटाः मत्तत्वेन चेतस्ततः पतन्ति । तेनाधारस्यापि तथात्वम् ।

---

१ ज्ञानस्येति पाठान्तरम् ।
२ प्रेमा०

अवतंसस्य तु तथात्वे महती शोभैव जातेति ज्ञापयितुं विभ्रमत्पदम् । न हि विलासं कुर्वदशोभितं भवतीति भावः । मत्तालयो विभ्रमन्तो यत्रेति वा । मत्तत्वेन सशब्दत्वं स्वाज्ञानं च ज्ञापितम् । एतेन यथापकृष्टखगानपि सर्वोत्कृष्टपारिजातपुष्पस्य केवलदेवभोग्यस्य तत्रापि स्वकर्णाभरणरूपस्य रसं पाययसि, मत्तानपि तान्न निवारयसि, दोषं च न गणयसि, किन्तु तत्कृतशोभामेव बिभर्षि । तथास्मानपि भवद्रसास्वादजनितमदानधुना तदप्राप्त्याऽतथाभूतान् भवदेकशरणान् स्वयं रसं कुतो न पाययसीति हृदयं ज्ञापितम् । भगवदागमनसमये प्रथमतः समुदिताननशोभा एव दृग्गोचरेति समुदितमाननं वर्णयति **आननेन्द्विति**। आननमेव इन्दुस्तेन जिता अधःकक्षीकृता अनन्ताः पूर्णाः शारदचन्द्रमसो येन इति योजना । अयमर्थः । असंख्यपूर्णशारदचन्द्रमसां सौन्दर्यमेकैकशः पृथक्कृत्यैकस्मिंश्चन्द्रे एव यदि क्रियते, तदा सोऽपि चन्द्रो भगवदाननसौन्दर्यसमानसौन्दर्योऽपि न भवतीति । शरदि गगननैर्मल्यतारादिकृता शोभाऽधिका भवतीति शारदेत्युक्तम् । इन्दुपदेन तापहारित्वकुमुदविकासकत्वरात्रिसुखदत्वमार्गप्रकाशकत्वरसोद्दीपकत्वादीनि सूचितानि । तथाच दिवा विरहतापवत्त्वेन नयनानां कुमुदत्वेन रात्रौ रमणेनान्धकारेऽपि तदर्थं गमनेन च स्वस्यैतद् हितकारीति भावः सूचितः । एतेनैव परितः स्थितकचोद्ग्रथितकुसुमानां जितानन्तनक्षत्रत्वं द्योतितम् । किञ्च । पूर्वं श्यामामृतरसार्णवत्वेन विग्रहस्य निरूपणेन तदुपरिस्थिताननस्य चेन्दुत्वनिरूपणेन उद्यच्चन्द्रशोभावत्त्वं सूचितम् । तेन गोपीकुङ्कुमादिना कुण्डलमण्यादिप्रभया वा सर्वदा सरागत्वं सूचितम् । श्यामासम्बन्धीति व्याख्याने गोपीजनामृतरसस्यैव अर्णवत्वनिरूपणेन भगवन्मुखचन्द्रदर्शनादेवास्य वृद्धिरिति सूचितम् । विभावकत्वमीषत्पाण्डुरत्वमप्यनेन सूचितम् । तदुक्तम् । 'बदरपाण्डुवदन' इति । यदा गोप्यो भगवत्संमुखमुपविश्य भगवच्छिरसि ललाटादौ वा मुकुटादिनिर्माणश्रमजलादिमार्जनादिकं हस्तद्वयेन कुर्वन्ति, बन्धविशेषे वा मुखस्य परितो हस्तद्वयमेकं वा भवति, तदात्यलौकिकपरिवेषशोभावत्त्वं सूचितम् । स्थलविशेषचुम्बने कोकरूपकुचद्वयवियोजकत्वं च । जितत्वनिरूपणेन यथा पराजितस्य सर्वस्वग्रहणेनातितुच्छत्वं भवति, तथा भगवदाननस्याग्रेऽस्यापि चन्द्रस्य तुच्छत्वं भवतीति ज्ञापितम्, सूर्यस्याग्रे दीपस्येव । एतेनैतच्चन्द्रविरुद्धधर्मवत्त्वं सूच्यते । तेन भगवदाननावलोकनं विना विरहतापेनातिशुष्कतया परस्परं वियुक्तयोः कोकरूपकुचयोस्तादृशयोरेवाननहृदयकमलयोः दर्शनमात्रेणातिप्रमोदसंश्लेषकारित्वविकासकत्वाभिसारानुकूलत्वादीनि ध्वनितानि । अत एव जित्वा लाञ्छितान् कृत्वा व्यसृजदित्यपि ध्वनिः । यद्वा । आननेन्दुना जिता वशीकृता या गोप्यस्तासु विरहतापनिराकरणेन तथेति । तथा च यथा तरणिजनिततापमेक एवेन्दुर्दूरीकरोति, तथा भगवान् स्वविरहतप्तानां तापदूरीकरणार्थं दर्शनाश्लेषादिनाऽसंख्यचन्द्रवत् शीतल इति भावः ॥ ९ ॥

---

१ प्रापकेति पाठः ।

एवं समुदितमाननं वर्णयित्वा प्रत्यवयववर्णनं करोति सार्धपञ्चभिः **श्रीम**दिति ।

श्रीमल्ललाटपाटीरतिलकालकरञ्जितः ।
लीलोन्नतभ्रूविलासो मदालसविलोचनः ॥ १० ॥

श्रीमति ललाटे पाटीरस्य चन्दनस्य यत्तिलकं तेनालकैश्च कृत्वा रञ्जित इत्यर्थः । ललाटे तिलकादिकृतैव न शोभा, किन्तु सः स्वतोप्यतिसुन्दर इति ज्ञापनार्थं श्रीमत्पदम् । तिलकं भ्रूमध्यकेशपर्यन्तम् । तत्केवलपाटीरप्रयोगात् श्वेतं पीतं वा । केवलप्रयोगः प्राधान्येन । अलकतिलकयोः सामानाधिकरण्यनिरूपणेन यथा अलका आकर्णं स्थितास्तथा भ्रूमध्यकेशपर्यन्तं समानरेखाद्वयात्मकं तिलकं विधाय पुनस्तिर्यक् विचित्ररेखाभिराकर्णं कृतमिति ज्ञायते । मुखाम्बुजस्य परितः पङ्क्त्याकारेण स्थिताः कुञ्चिताः कचा अलकाः । तथा चैताभ्यां रञ्जितो, यथा मञ्जिष्ठेन वस्त्रं तथेत्यर्थः । प्रोञ्छनमार्जनादिनापि तयोरतथाभावो न भवतीति भावः । यद्वा । तथाभूताभ्यां ताभ्यां कृत्वा रञ्जितः, सर्वेषां रागविषयीभूत इत्यर्थः । यद्वा । तथाभूततिलकश्चासावलकरञ्जितश्चेति कर्मधारयः । अत्रापि रागविषयत्वमेवार्थः । तथा च रागस्य जीवधर्मत्वेन तत्सारूप्यवन्मधुपत्वं ध्वन्यते अलकानाम् । तेन भगवन्मुखस्याब्जत्वं ध्वन्यते । तत्र तिलकस्य रेखाणां च पीतत्वेन केसरपरागत्वे ज्ञेये । रागविषयत्वनिरूपणेन सरसत्वं ज्ञापितम् । तेषां सरस एव तस्मिन्नासक्तेरतथाभूते विरक्तेः । शश्वत्सुस्थिराणां तथात्वनिरूपणेन च सर्वदा सरसत्वं ज्ञापितम् । तेन प्रसिद्धकमलविलक्षणत्वं ज्ञायते । एतेन यथा सरस एव देशे कमलं तिष्ठति, सर्वदा प्रादुर्भवति च, तथा प्रेमरससरसहृद्येवैतस्यापि प्राकट्यं स्थैर्यं च, नान्यत्रेति । सर्वदा कोकरूपगोपीकुचसाहचर्यसौगन्ध्यकोमलत्वादीनि च सूचितानि । क्रमप्राप्तां भ्रुवमाह **लीले**ति । लीलायां वेणुवादनलीलायामुन्नता या भ्रूस्तस्यां मन्द्रमध्यतारस्वरानुकृतिरूपो विलासो यस्य स तथा । अथवा । तदैव सङ्केतस्थलादिसूचनं विलासः । यद्वा । मिथ्याकोप एव लीला । तेनोन्नतायां तस्यां स यस्य तथेति । तदा विलासश्चान्तःकोपाभावेन किञ्चिद्धास्यं तदभिनयेन च किञ्चिद्वक्रत्वम् । लीलयैवोन्नता भ्रूरित्यप्यर्थो ज्ञेयः । न तु कदाचिदपि कोपेनापि तथेति भावः । यद्वा । लीलायां क्रीडायामतिशयितमदनमदेनोन्नता या भ्रूस्तस्यां बन्धादिसूचनलक्षणो विलासो यस्येत्यर्थः । यद्वा । लीलया रात्रिजनितसुरतक्रीडया कृत्वा प्रातरुन्नता या भ्रूस्तस्यां विलास आलस्यादिभावो यस्येति । रजनिजागरमुकुलायमाननयनयोरतिबलेन विकासने प्रवस्तदोन्नतत्वम् । यद्वा । लीलासु गोपैः सह क्रियमाणासु मध्ये उन्नत उत्कृष्टो भ्रूविलासः सङ्केतस्थलादिसूचनं यस्य स तथेत्यर्थः । अत्यार्त्या स्थातुमशक्तौ गोपसहितस्यापि प्रियस्य समीपमागतायां राधायां भ्रुवैव सङ्केतादिसूचनेन समाधानं कृतवानिति तत्स्मृत्वोक्तमधुनापि करोत्विति हृदयेन स्वस्यैतदेव हितमिति सर्वोत्कृष्टत्वनिरूपणमस्मिन् । क्रमप्राप्ते नेत्रे वर्णयति **मदे**ति । असङ्ख्यगोपीमुखा

म्भोजमधुपानजातो यो मदस्तद्युक्ते तेन वा अलसे विलोचने यस्येत्यर्थः । तदेकपरतातिरिक्तकार्याक्षमत्वमप्यलसपदार्थो ज्ञेयः । तेन भगवन्नयनयोः सततं गोपीपरत्वं गोपीनां चातिसरसत्वं सूच्यते । यत्र नयनाभ्यामपि दूरतोपि पाने मदजनकत्वं, तत्र साक्षादधरादिसुधापाने किं वक्तव्यमिति निगूढाशयः । अत एव 'बहु मनुते ननु ते तनुसङ्गतपवनचलितमपि रेणुं' 'त्वमसि मम जीवन'मित्यादीनि जयदेवोक्तिष्वपि वचनानि विलसन्ति । न च कविचातुर्यमेव तत्रेति वाच्यम् । तस्य वस्तुन एव तथात्वात् । किञ्च, महतामेव कृतसुकृतानां भगवदनुगृहीतानामेवात्र विश्वासेन बहिर्मुखस्याविश्वासेपि न नः कापि हानिः । खेदमात्रं परमिति संक्षेपः । यद्वा । मदो गोपीनां मानस्तस्मिन्नलसे अक्षमे विलोचने यस्येति । पूर्वमेव परं मानादिः । भगवद्दृष्टिपातमात्रेणैव विगतमानाः सर्वाः भवन्तीति तथा । यद्वा मदो गर्वस्तेन चालसे विलोचने यस्येति । मध्यमपदलोपी । गर्वो लोचननिष्ठ एव । स च कमलखञ्जनमदनजयेनेति भावः । यद्वा । मदालसा गोप्यस्ता विलोचनयोर्विलोचने वा यस्येत्यर्थः । यदा स्वयं मिथ्याकृतावधिना भगवता लीलासङ्केतस्थलस्थेन दूतिकायां प्रेषितायामपि गोप्यो न मन्यन्ते, तदा तद्विरहेण सर्वत्र गोपीदर्शनेन तथा । तदुक्तं केनचित् 'पर्यङ्के से'त्यादिना 'सा सा सा सा जगति सकले कोयमद्वैतवाद' इत्यन्तेन पद्येन । एतेन तदा तादृशो भवानधुनास्मद्वियोगं भवद्विरहजसन्तापं चास्माकं कथं सहत इति हृदयं सूचितम् ॥ १० ॥

अत्र क्रमप्राप्तयोरपि नयनयोः स्मृतावनयोः सौन्दर्यातिशयस्य प्रातर्दृष्टत्वेन तत्सामयिक एव ते वर्णयति । तदा च प्रथममालस्येन तयोर्मुकुलितत्वेन पश्चादीषत् प्रसृतदृष्टित्वेन पूर्वं तादृशे ते वर्णयित्वा दृष्टिं वर्णयति **आकर्णे**ति ।

आकर्णारक्तसौन्दर्यलहरीदृष्टिमन्थरः ।
घूर्णायमाननयनः साचीक्षणविचक्षणः ॥ ११ ॥

आकर्णारक्तेत्यत्र कर्मधारयो नयनवाचकत्वं च ज्ञेयम् । तथा च कर्णावधिके ईषद्रक्ते ये लोचने तत्सौन्दर्यलहरीरूपैव या दृष्टिः सा मन्थरा अल्पगतिमती यस्येत्यर्थः । अत्र सौन्दर्यस्यैव हृदि स्थितत्वेन तत्र चोक्तधर्मद्वयस्यैव प्राधान्यमिति तयोरेव ग्रहणं, न नयनयोः । दृष्ट्या लहरीत्वनिरूपणेन सौन्दर्यस्य समुद्रत्वं ध्वनितम् । तेन सौन्दर्यस्य निःसीमत्वं, दृष्ट्याश्च सरसत्वं ज्ञापितम् । यत्र दृष्टिः पतति तं देशं शीतलं यथास्थितं सरसं च करोतीति सूचितम् । तरङ्गशब्दं पुलिङ्गं विहाय स्त्रीलिङ्गलहरीपदप्रयोगेणान्तरङ्गकार्यकरणं स्वसजातीयत्वेन स्त्रीष्वेवैतस्या दृष्टेः (यथा पा[1]तनं), न तथान्येष्वपीति ज्ञापितम् । एतेन दूतीत्वं दृष्टेः गोपिकासमानयने सूचितम् । अत एव गोप्यो भगवद्दृष्टिपातमात्रेण तद्वशगाः सत्यो भजन्ते व्रजनाथम् । न दूतिकान्तरप्रेषणमपेक्षन्त इति निगर्वः । तेन भगवदङ्गैकदेशसौन्द-

१ प्रवृत्तेरिति पाठः ।

यैकदेशेनैव यत्र सर्वं विहाय गोप्यो भजन्ते, तत्र सर्वाङ्गसौन्दर्यं दृष्ट्वा भजने किं चित्रमिति भावः । सौन्दर्यलहरीत्वनिरूपणेन यथा दुग्धाम्भोधितरङ्गा दुग्धरूपा एव, तथा दृष्टिरपि सौन्दर्यरूपैवेति सूचितम् । पूर्वभावयोग्यमन्थरपदस्यान्ते निरूपणेन रात्रिजागरणादिना भगवान् परं तूष्णीं तदा तिष्ठति । नयने तु तादृशगत्याप्यनेकं कार्यं कुरुत इति सूचितम् । लहरीपदेन प्रान्तदृष्टिः सूचिता । लहरीणामब्धिप्रान्तयोरेव भावात् । यद्वा । पूर्वोक्तलहरीरूपा या दृष्टिर्गोपीनां सा मन्थरा येन स तथा । नयनवर्णनप्रकरणत्वाद्यदा भगवन्नयनदर्शनानन्तरमेवातिसौन्दर्यवशेन तत्रैव गोपीदृष्टिः स्थगितासीत् तत्स्मृत्वेदमुक्तमिति ज्ञेयम् । गोपीनयनानि भगवन्नयनभावापन्नानीत्यपि सूचनार्थं भगवन्नयनवर्णनप्रकरणे तासां नयनवर्णनम् । स्वभावचपला अप्यशक्यस्थिरत्वा अपि तद्दृष्टयो यत्र मन्थरा भवन्ति तत्रान्येषां का वार्तेति । भगवत्यलौकिकधर्मवत्त्वं लहरीपदेन सूचितम् । भगवद्दृष्टिवर्णनपक्षेपि तादृशी दृष्टिर्मन्थरा यस्येत्यत्र तासां भगवानिव मन्थरत्वहेतवो गोप्य एव । तथाचारादुक्तालौकिकधर्मवत्त्वमेतास्वपि सूचितमिति संक्षेपः । यद्वा आकर्णा भगवतः कर्णपर्यन्तं वर्तमाना या गोप्यस्तासु रक्ता चासौ तादृशी दृष्टिश्चेति कर्मधारयः । कर्णपर्यन्तं वर्तमानत्वं विपरीते । तथा च तत्कालीनसौन्दर्यलहरीरूपा रतिरभसवशेनातिचञ्चला या दृष्टिः सा भावाधिगमसमये मन्थरा यस्येत्यर्थः । एवं भोगावसानसामयिके नयने वर्णयित्वा तदुत्तरसामयिके वर्णयति **घूर्णायमाने**ति । अतिशयेन गोपीसहस्रसम्भोगरसासवपानेनैव तथात्वम् । तत्त्वं च पक्ष्ममध्य एवेतस्ततः सालस्यगतिविशेषवत्त्वमेव । यद्वा । घूर्णा घूर्ण(वर्त)माना मानवत्यो गोप्य इति यावत् । ता अयमाना गतिमत्यो येन स तथा । मानसमयेपि यदैव भगवन्नयने पश्यन्ति, तदैव स्थातुं न शक्नुवन्ति, तेन मानाच्चलन्ति, निरभिमाना भवन्तीत्यर्थः । भगवन्मिलनार्थं गतिमत्यो भवन्तीति वा । क्षणानन्तरं भगवान् किञ्चिद्दृष्टिं प्रसारयतीति मत्वाह **साचीक्षणे**ति । साचीक्षणमीषद्वक्रेक्षणं, तेन कृत्वातिविलक्षणोऽशक्यनिर्वचनतत्कालीनसौन्दर्य इत्यर्थः । यद्वा । तादृशेन कृत्वा विगतानि लक्षणानि चेष्टादीनि चिह्नानि येन स तथा । एतादृशनयनदर्शनानन्तरमेव सर्वे चित्रिता भवन्तीति तथा । यद्वा । साचिः अल्पमीक्षणं यस्मिन्समये स प्रातःसमय इति यावत् । तदा कज्जलकुङ्कुमरेखादिना विशिष्टानि लक्षणान्यङ्गानि यस्य स तथेति । तदैव विलक्षणोऽशक्यनिर्वचनसौन्दर्य इति वा । यद्वा । साचीक्षणपदेन पूर्वन्यायेनान्धकाररात्रिरुच्यते । तथाच तस्यां वेः पक्षिणो मयूरादेर्लक्षणं तद्वत् कूजनं यस्येत्यर्थः । एतच्च यदा दिवसे कृतसङ्केतो रात्रौ तादृशनिबिडनिकुञ्जस्थो गोपीः प्रतीक्षते भगवानेताश्च नीलनीव्यादिपरिधानेन सज्जीभूता गृहादागच्छन्त्यो रात्र्यन्धकारेण गहनवनत्वेन च तत्स्थलं ज्ञातुमशक्ता भवन्ति, तदा भगवानन्याज्ञानार्थं कृतसङ्केतमेव मयूरादिरवमनुकरोतीति तथा । तदैव तादृशायासेनाप्यस्मदिष्टकारी, अधुना कुतो नेति भावः । मार्गप्रापणनयनकार्यकर्तृत्वेन कूजनादेर्नय-

नप्रकरण एवोक्तिः । यद्वा । मानेनेषद्वक्रेक्षणा या गोप्यस्तासु विलक्षणोतिचतुरो मानापनोदनादावित्यर्थः ॥ ११ ॥

तत्सामयिकीं स्वावस्थां स्मृत्वाह अपाङ्गेति ।

अपाङ्गेङ्गितसौभाग्यतरलीकृतचेतनः ।
ईषन्मुद्रितलोलाक्षः सुनासापुटसुन्दरः ॥ १२ ॥

अपाङ्गः स्वभावेनेषद्वक्रनयनाञ्चलेक्षणं तद्रूपमेव यदिंगितं चेष्टितं, तेन यत्सौभाग्यं सौन्दर्यं, तेन तरलीकृता चेतना सर्वेषां चैतन्यं येन स तथा । एतादृशसौन्दर्यदर्शनानन्तरमत्यार्त्या प्राप्त्या च मूर्च्छायामपगमस्ततश्चिरेण तदपगमे समागम एव तरलत्वं चेतनायाः । यद्वा । अपाङ्गानां यदिंगितं सुरतेच्छारूपभावविशेषज्ञापकालसवलितत्वादिः । स एव यत्सौभाग्यमस्माकं गोपीनां, तेन तरलीकृताः पूर्वसिद्धपातिव्रत्यकुलधर्मादिशून्याः कृता यास्ता एव तासां चेतनः प्राणरूप इत्यर्थः । एतेन भगवत्प्राप्तावेव तासां जीवनं, नान्यथेत्युक्तं भवति । अत एवान्तर्गृहगतिजातप्रतिबन्धानां तासां तथा । अत एव ताभिरप्युक्तं 'भवदायुषां न' इति । यद्वा । तरलास्तरङ्गास्तद्वांस्तरली समुद्र इत्यर्थः । तथाचापाङ्गेंगितरूपो यः सौन्दर्यसमुद्रस्तेन कृता चेतना येन स तथा । भगवद्विरहेणापगतचेतनासु गोपीषु भगवानागत्य यदैव तादृशापाङ्गेन निरीक्षते, तदैव सर्वासां चैतन्यं भवतीति तथा । कृतपदेन अस्याश्चेतनाया नूतनत्वं ध्वन्यते । यद्वा । अपाङ्गेंगितञ्च सौभाग्यञ्चेति द्वन्द्वः । ताभ्यां तरलीकृता चेतना बुद्धिर्येनेत्यर्थः । प्रातरन्यगृहादागते भगवति मानेन अहं न वदिष्यामि किञ्चिदिति कृतायामपि बुद्धौ भगवदपाङ्गसौन्दर्याभ्यां बुद्धेस्तथा न स्थैर्यं भवतीति तथा । यद्वा । अपगतमङ्गं यस्य सोपाङ्गोनङ्ग इति यावत् । तथाच तत्सम्बन्धि यदिंगितं क्रीडारूपचेष्टितं तेन जनितं तद्रूपमेव वा यत्सौभाग्यमस्माकं तस्मिन्सति तरलीकृता चेतना सावधानता येनेत्यर्थः । महासुरतक्रीडाभिरतिश्रान्तानां रजनिजागरजनितनिद्रास्खलद्गतीनां गोपीनां न तथा सावधानतेति तथा । एवमुरुधा नयनसौन्दर्ये निरूप्यमाणे यदा कदाचिदखिलगोपीसदस्युपविश्य बाहुप्रसारादिना हास्यं कुर्वन् लीलया हास्यविशेषार्थं तासु सन्तोषार्थमीषन्नेत्रे निमील्येतस्ततो गोपीरपश्यत्तदा सौन्दर्यविशेषोनुभूत इति तत्स्मृत्वाह ईषदिति । अल्पमुद्रिते लोले चञ्चले वाक्षिणी यस्य स तथा । यद्वा । ईषन्मुद्रितत्वं सुरतान्ते लोलत्वञ्च नितम्बिनीकदम्बस्य 'श्लिष्यति कामपी'त्यादिगीतोक्तप्रकाररमणे । तथा चेषन्मुद्रिताक्षो लोलाक्ष इत्यक्षपदावृत्त्या नामद्वयं पर्यवस्यति । यद्वा । लोला लक्ष्मीः शोभेति यावत् । अग्रिमपदं भावप्रधानम् । तथाचेषन्मुद्रितत्वकृता या शोभा तद्युक्ते ते यस्येत्यर्थः । दीर्घनयनयोरीषन्मुद्रणेधिका शोभानुभवसिद्धा । यद्वा । पूर्वमनागतासु गोपीषु रहसि तासामागमनसमये मिथ्याशयनं विधायोपरिसूक्ष्मवस्त्रं गृहीत्वेषन्निमील्य नेत्रे तासामज्ञानार्थमेताः किं करिष्यन्ति किं वदिष्यन्तीति ज्ञा(प)नार्थं तादृश एव लोलाक्षो भव-

तीतस्ततः पश्यति, तदा भगवन्तं शयानं मत्वा स्वरहःकथामन्योन्यं चुम्बनाश्लेषादिकं च कुर्वन्ति । तदा भगवानकस्मादुत्थाय निद्रां मत्वा स्वचुम्बनं कुर्वाणां काञ्चिद्धृत्वा चुम्बति, ताभिरन्योन्यमुक्तं चानुवदति, तदा सर्वासामन्योन्येक्षणपूर्वः सव्रीडहासयुक्तो महान् रस उत्पद्यत इति तत्स्मृत्वोक्तमिदम् । यद्वा । यदाञ्चलेनेषदाच्छन्न ईषत्प्रकटे राधाहृदयप्रदेशे सति भगवान् वारवारमपश्यत् । तत्स्मृत्वोक्तमीषन्मुद्रितेति । ईषदाच्छन्ने गोपीहृदयमण्डले लोलाक्ष इत्यर्थः । क्रमप्राप्तां नासिकामाह **सुनासे**ति । शोभने ये नासापुटे ताभ्यां कृत्वा सुन्दरोतिमोहन इत्यर्थः । शोभनत्वं कनकसूत्रितमुक्ताफलवत्त्वं, साम्योन्नतत्वे च, पुटपदेन पर्णद्वयकृतं रसद्रव्यस्थापने पाने वा साधनीभूतं वस्तूच्यते । इह च तत्त्वनिरूपणेनोभयपार्श्वावयवयोरत्र पर्णत्वं तद्वत्पत्तलत्वञ्च नासायाः सौन्दर्यामृतस्थानभूतत्वञ्च ध्वन्यते । अत एव तत्कृतं सौन्दर्यमेव निरूपितमग्रे ॥ १२ ॥

एवं सौन्दर्ये निरूप्यमाणे कदाचित्पूर्वं नासामुक्ताफलकुण्डलप्रभाभ्यामतिशयितसौन्दर्यं दृष्ट्वा सहजसुन्दरे गण्डमण्डले चुम्बनमकरोत्तत्स्मृत्वा अधरात्पूर्वं गण्डमण्डलं निरूपयति । एतस्य च कुण्डलतत्प्रभाव्याप्तत्वेन तयोश्च कर्णस्थत्वेनैकस्मरणे सम्बन्धित्वेन त्रयमपि स्मृत्वाह **गण्डे**ति ।

गण्डप्रान्तोल्लसत्कर्णमकराकृतिकुण्डलः ।
प्रसन्नानन्दवदनो जगदाह्लादकाननः ॥ १३ ॥

गण्डयोर्यौ प्रान्तदेशौ तत्रोल्लसद्देदीप्यमाने कर्णसम्बन्धिमकराकृतिकुण्डले यस्य स तथा । कर्णविशेषणं वोल्लसत्पदम् । तेन कर्णयोः कुण्डलकृतैव न शोभा किन्तु स्वतोप्यतिसुन्दरे त इति ज्ञापितम् । यथा नयनयोरतिसरसत्वं न तथा कर्णयोरिति तथान्यत्राननुभवेन कस्यचित् कुबुद्धिः स्यात् तन्मा भूदिति कर्णयोर्मकराकृतिकुण्डलधारणम् । तेषां सरस एव देशे स्थितेस्तत्साम्यवतोस्तयोः सततं तत्र स्थित्या तयो रसमयत्वं ज्ञाप्यते । तेन यथा नेत्रमात्रदर्शनेपि महान्रसस्तथा कर्णयोरपीति भावः । ततश्चुम्बनेनातिप्रसन्नस्य भगवतः तादृशमाननं दृष्ट्वात्यानन्दिता स्वयमप्यभूदिति तत्स्मृत्वाह **प्रसन्ने**ति । प्रसन्नमानन्दरूपं च वदनं यस्य स तथेत्यर्थः । कदाचित्स्वस्य कृतापराधत्वेपि भगवदाननं प्रसन्नं दृष्ट्वा आनन्दिताभूत्तत्स्मृत्वा वेदमुक्तम् । एतेन केनचिदपराधेनाधुना भगवान्न मिलतीति शङ्का निरस्ता । यद्वा । प्रकर्षेण सन्नाः सूक्ष्माः कृशा इति यावत् । तथा चैतादृश्यो या गोप्यस्तासामानन्दरूपं वदनं यस्येत्यर्थः । विरहेणातिकर्शितानां तासां भगवन्मुखावलोकनेनैव महानानन्द उत्पद्यत इति तथा । तेन प्रकृतोपयोगीदं नाम । यद्वा । प्रसन्नः प्रकट इत्यर्थः । तथाच तादृशानन्दरूपमेव वदनं यस्य स तथेति । यद्वा । प्रसन्ना या गोपिका तयानन्दयुक्तं वदनं यस्य स तथा । यदा कदाचित्पूर्वं समयबन्धं कृत्वान्यत्र समग्रां निशां नीत्वा प्रातः समागते भगवति मानादिनाप्रसन्नायामिव जातायां भगवता 'वदसि यदि किञ्चिदपी-'

त्यादिगीतार्थानुकरणेन कृते मानापनोदने पूर्ववदुत्फुल्लवदना प्रकटानुरागाभवत्तदा भगवानप्यानन्दितोभवदिति तत्स्मृत्वोक्तम् । अधुना मत्प्रार्थनायामपि कुतो न करोतीति भावः । एवमेतादृशस्मरणेनातिसन्तापे जातेऽत्यार्ता तदपगममिच्छन्ती भगवदाननस्यैव चन्द्रत्वं निरूपयति । एतदेव मम तापापहारि, न त्वन्यदपीत्यभिप्रायेण । अत एव न पौनरुक्तिदोषः । **जगदि**ति । जगतः सर्वस्यैवाह्लादकर्तृ आननं यस्य स तथा । सर्वेन्द्रियान्तःकरणव्यापकानन्दविशेष आह्लादः । अस्य सर्वत्रैवैतत्कर्तृत्वं कोकरूपगोपीहृद्यसंश्लेषकत्वेन, गोपीमुखकमलादिविकासकत्वेन, रात्रावपि वृन्दावनस्थकोककमलाद्यानन्ददातृत्वेन, तेन प्रसिद्धचन्द्रादतिशयः सूचितः । तस्मिन्नेव तदभावात् । एतेन यथा स तदर्थमेव सृष्टस्तथा भगवन्मुखचन्द्रोस्मदाह्लादनार्थं प्रकटः, स चेत्स्वकार्यं करिष्यति, न तदा स्वावतारप्रयोजनमपि न सेत्स्यतीति भावः । एतदेवोक्तं 'व्यक्तं भवानि'ति श्लोकेन 'व्रजवनौकसामि-' त्यादिना च । जगत आह्लादो येन तादृग् वाननं यस्येत्यर्थः प्रकरणविरोधादुपेक्ष्यः ॥१३॥

एवमाह्लादकत्वेन चन्द्रत्वं तस्मादतिशयश्च निरूप्य अतः परं प्रकाशकत्वेनापि तद्द्वयं निरूपयति **सुस्मेरे**ति ।

सुस्मेराधृतलावण्यप्रकाशीकृतदिङ्मुखः ।
सिन्दूरारुणसुस्निग्धमाणिक्यदशनच्छदः ॥ १४ ॥

सुस्मेरैरतिसुन्दरैर्मदनचन्द्रादिभिराधृतं यल्लावण्यं सौन्दर्यं प्रकरणान्मुखारविन्दस्यैव तेन प्रकाशीकृतानि प्रकाशयुक्तानि कृतानि दिङ्मुखानि दशापि दिशो येनेत्यर्थः । चन्द्रादिकृतप्रकाशयुक्तान्यपि तानि भगवन्मुखारविन्दतादृशप्रभयैव तादृशतद्युक्तानि भवन्तीति ज्ञापनार्थं सुस्मेराधृतेति विशेषणम् । अन्यथा लावण्येत्याद्येव वदेत् । दिङ्मात्रे वक्तव्ये मुखोक्त्या तासामपि स्त्रीत्वेन यत्र तासां मुखानि प्रकाशयुक्तानि करोति तत्रास्माकं मुखानि कुतो न करिष्यतीति भावः सूचितः । तेन स्त्रीणामेव हितकारीति सूचितम् । तेन स्वस्य भगवत्संगाशालतावलम्बनकदम्बविटपीयतीदं नाम । यद्वा । सुस्मेरैः पूर्वोक्तैरेव आ ईषद्धृतं लावण्यं यस्य तत्तथा । तथाच प्रकरणात्तादृङ्मुखारविन्देनेत्यग्रे पूर्ववत् । मन्मथादयो भगवन्मुखारविन्दसौन्दर्यकोट्यंशांशधारणेन लोकेतिसुन्दरा इति कथ्यन्त इत्यर्थः । एतेन तमिस्रायामपि रमणे भगवतो विभावकत्वेनापि न चन्द्रस्यापेक्षेति सूचितम् । यद्वा । सुस्मेरा गोप्यस्ताभिः कृत्वा यद्भगवता स्वस्मिन् धृतं लावण्यं तेन तथेति । गोपीजनवेष्टितस्य गोपीकृतशृंगारस्य तत्सम्भोगजनितकुङ्कुमकज्जलादिरेखावतो वा यल्लावण्यं तदत्र विवक्षितम् । यद्वा । सुस्मेरानिमित्तं यद्धृतं लावण्यमित्यर्थः । तथाचोक्तम् 'तासामाविरभूदि'त्यनेन । 'अनुग्रहाय भक्तानामि'ति श्लोकेन च । यद्वा । पूर्वनाम्नाह्लादस्मरणेन कदाचिद्भगवान् राधिकामिलनाह्लादेन सहासवदनोभूत्तत्सामयिकं स्मृत्वाह **सुस्मेरेति पूर्ववत्** । अत एव प्रकाशवर्णनम् । अत एव तदा दन्ताः प्रकटा दृष्टा इत्यधरश्च

तथा दृष्ट इति तदेवाह **सिन्दूरे**ति । स्निग्धानि चिक्कणानि शोभनानि स्नेहविषयाणि वा यानि माणिक्यानि आरक्ता मौल्यमणिविशेषाः तत्सदृशानि यानि दशनानीत्यन्तेन दशनवर्णनम् । तथा च सिन्दूरवदरुणः सुस्निग्धमाणिक्यदशनानां छद आच्छादकोऽधरो यस्येत्यर्थः । यद्वा । सिन्दूरेत्यादिपदान्युभयत्र सम्बध्यन्ते । तथाच पूर्वोक्तरूपाणि दशनानि तच्छदश्च यस्येत्यर्थः । अधरे माणिक्यदृष्टान्तश्चाकचक्येन । एतेन यथा मणिः प्रियः सर्वस्यापि, परन्तु मर्मज्ञोस्य कश्चिदेवैतद्वार्ताभिनिविष्टः परीक्षकजनः, तथा भगवानपि प्रियः सर्वस्य, परं मर्मज्ञा महासुरतसञ्जातदन्तक्षताधरपाना गोप्य एवेति सूचितम् । तेन स्नेहातिशयोपि सूचितः । सिन्दूरदृष्टान्तेनैतद्रहिताया दुर्भगात्वं सूचितम् । यद्वा । **सिन्दूरारुणो** यः अधरः तस्मिन् स्निग्धाः स्नेहवत्यो गोप्य इति यावत् । तासु माणिक्यरूपदशनानां छदः समूहो यस्य । दशनानि तच्छदश्च यस्येति वार्थः । अत्र माणिक्यपदेन यथा माणिक्याभरणैरधिका शोभा, तथा दशनाधरचिह्नैरपीति सूचितम् ॥ १४ ॥

एवं भगवता क्रियमाणे राधया सीत्कारे कृते 'व्यथते कि'मिति यदाब्रवीद्भगवांस्तदा तस्मादप्यधिकं सुखमनुभूतमिति तत्स्मृत्वाह **पीयूषे**ति ।

पीयूषाधिकमाध्वीकसूक्तः श्रुतिरसायनः ।
त्रिभङ्गललितस्तिर्यग्ग्रीवस्त्रैलोक्यमोहनः ॥ १५ ॥

पीयूषादमृतादप्यधिकं मधु यस्मिन्नेतादृशं तद्रूपैव वा शोभनोक्तिर्यस्येत्यर्थः । पीयूषादाधिक्यं तदसाध्यसाधकत्वम् । एतदेव 'सिञ्चाङ्ग न' इति श्लोके निरूपितम् । 'त्वदङ्गसङ्गामृतमात्रे'ति । 'एतावत्यतनुज्वर' इति च गीतगोविन्देपि निरूपितम् । देवामृतासाध्यानङ्गजीवनत्वं च स्पष्टम् । उक्तौ शोभनत्वं भगवतोच्चारणे क्रियमाणे दरप्रकटरदप्रभापङ्क्त्या नवमणिमयतोरणशोभावत्त्वम् । मङ्गल एव तोरणविधानात् । एवमुक्तिस्मृतौ यदा कदाचिद्विरहेण मूर्छितासु गोपीषु भगवानागत्य मधुरया गिरा तामपाकरोत् । तत्स्मृत्वाह **श्रुती**ति । श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं तत्सम्बन्धी रसायनो महौषधरूप इत्यर्थः । यद्वा । पीयूषेत्याद्येकमेव नाम । तथा च तादृशोक्त्या गोपीनां श्रुतिषु तथेत्यर्थः । यद्वा, सूक्त्या माध्वीकत्वनिरूपणेन मुखस्यातिसरसकमलत्वं ध्वन्यते । तादृशस्य तस्य सभ्रमरत्वनियमेनात्रापि नयनचुम्बनसञ्जातनीलिमाधरत्वं सूच्यते । अत एवावधिं कृत्वान्यत्र गते भगवत्यत्यार्त्या मूर्छितायां तस्यां प्रातस्तादृश आगत्य वचनैरेव समाधत्त इति महौषधरूपत्वमपि सङ्गच्छते । तादृशसूक्तिरूपो यः श्रवणसम्बन्धी रसस्तस्यायनरूप इति वार्थः । पुलिङ्गप्रयोगश्छान्दसः । एवं सूक्तिनिरूपणे रासपूर्वकालीनप्रथमागतगोपीविषयां 'स्वागतं वो महाभागा' इत्याद्युक्तिं भगवतः सस्मार, तदा च भगवान् वचनेन निवर्तयन्नपि तत्कालीनत्रिभङ्गस्वरूपेण मोहयित्वा स्वकीयाः कृत्वा रसं दत्तवानिति तथैवाधुनापि करोत्वित्यभिप्रायेण तदेव स्वरूपमाह **त्रिभङ्गललित** इति । त्रिष्वङ्गेषु ग्रीवाकटिचरणेषु यो भङ्गोन्यथाभावः, त्रिधा वा

भङ्गस्त्रिभङ्गस्तेन ललितोतिसुन्दर इत्यर्थः । तदा वेणुनाद एवातिभरेण तस्य च वामपरावृत्तस्य स्त्रीमोहकत्वेन तदा तथैव भगवता कृतत्वेन तत्र च ग्रीवायास्तिर्यङ्नियमेन तत्कृतशोभातिशयं स्मृत्वाह **तीर्यग्ग्रीव** इति । अत एव श्रीभागवते 'वामबाहुकृतवामकपोल' इत्यादिना देवस्त्रीमोहको वामपरावृत्त एव वेणुनादो वर्णितः । ननु द्वयोश्चतुर्षु वाङ्गेषु भङ्गित्वं न कुत इत्याशङ्क्य त्रिभङ्गतात्पर्यरूपं नामाह **त्रैलोक्यमोहन** इति । अत्रायमर्थः । लोकत्रयरूपाङ्गत्रयेन्यथाभावसम्पादनेन लोकत्रयस्यार्यमार्गरूपपूर्वरूपत्यागरूपान्यथाभाव एव सम्पाद्यते । अपि च । त्रिष्वप्यङ्गेष्वेकैकमप्यङ्गं त्रैलोक्यस्यापि तथा करणे समर्थम् । तथाहि । त्रयीरूपत्रिवलीवत्कण्ठेन्यथाभावसम्पादनेन त्रैलोक्यस्यापि त्रयीनिरूपितकर्ममार्गत्याजनम् । निर्गुणोपासकसमाधिरूपकटिनाम्योस्तथात्वसंपादनेन तस्य ज्ञानमार्गत्याजनम् । अतिसूक्ष्मतया शून्यतायामेव तद्रूपतेति न भागवतविरोधः । मर्यादाभक्तिरूपदक्षिणचरणकमलस्य अन्यथाभावसम्पादनेन पुष्टिरूपसुस्थिरवामपदाश्रितीकरणेन च मर्यादारूपविहितभक्तित्याजनं पुष्टिरूपकामादिमार्गेण भजनं च सम्पाद्यते । अत एव गोपीनामेवार्थं इदं स्वरूपं प्रकटीकृतमिति ज्ञेयम् । अन्यत्र मर्यादादित्यागाभावात् । अनेन स्वरूपेणान्येषामपि मनोहरणं तु यथा कामिनी कामुकानुरञ्जनार्थमेव मृगमदलेपं कुरुते, नान्यार्थं, परन्तु तस्याप्रतिबध्यस्वभावत्वेन गन्धः सखीनामप्यनुभूतो भवति, परं तद्भोक्ता स एव तथेति निगर्वः ॥ १५ ॥

एवं स्वमोहकरूपमुक्त्वा तत्सहायीभूताधरामृतसहितवेणुनादं वर्णयति **कुञ्चिताधरेति** ।

कुञ्चिताधरसंसिक्तकूजद्वेणुविनोदवान् ।
कङ्कणाङ्गदकेयूरमुद्रिकाविलसद्भुजः ॥ १६ ॥

कुञ्चितो योधरस्तेन सम्यक्सिक्तः, अत एव कूजन् शब्दायमानो यो वेणुस्तस्मिन्ये विनोदा विविधमूर्च्छनादयस्तद्वानित्यर्थः । वादनप्रकारविशेषेण कासाञ्चिदाह्वानं कासाञ्चिन्मोहनं कासाञ्चिज्जडता कासाञ्चिच्चैतन्यमिति अा विनोदशब्दार्थः । तदुक्तं 'निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनमि'ति 'कुजगतिं गमिता न विदामः' 'अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणामि'त्यादिना च । अधरस्य सेककरणत्वनिरूपणेन अमृतत्वं ध्वनितं, सेकस्य द्रवद्रव्यसाध्यत्वात् । अत्रान्यस्य तस्यासम्भवेन तत्त्वमेव निष्प्रत्यूहम् । स्वयं साक्षात्सिक्तवेणुजनितशब्दश्रवणेनाप्यस्मास्वपि सार्द्रताकरणं सेके सम्यक्त्वम् । यथा कोकिलादिकूजनेन रसोद्बोधो रसशास्त्रसिद्धस्तथा वेणुनादेन तद्बोधोस्मदनुभवसिद्ध इति कूजत्पदप्रयोक्त्या भावः । मोहनसहायत्वेन अस्य निरूपणेन अस्मदादीनामेवं मोहने भगवतो न कश्चित्प्रयास इति ज्ञापनार्थं विनोदपदम् । एवं वेणुं वर्णयित्वा तदाधारं वर्णयति **कङ्कणेति** । कङ्कणोपर्यङ्गदं तदुपरि केयूरमिति क्रमः । मुद्रिका अङ्गुलीस्थाः । आदिपदेन नखशुक्तिकोच्यते । तस्या गोप्यत्वात्तथोक्तम् । तथाचैभिर्लसन्तौ शोभायमानौ भुजौ यस्येत्यर्थः । अङ्गुल्यादीनां

भुजावयवत्वेन मुद्रिकाणामपि तच्छोभाकरत्वमुक्तम् । यद्वा । एवं वेणुवर्णने यदा कदाचिद्भगवान् वेणुना स्वनामैव गृहीत्वा समाह्वयत्, तदा तच्छ्रुत्वा रहस्यागत्य भगवद्भुजयोः स्वभुजौ धृतवती, भगवांश्च राधाभुजयोः स्वभुजौ, तदा स्वकीयैर्भगवदीयैश्च कङ्कणाङ्गदादिभिरतिशोभा भगवद्भुजे दृष्टेति तत्स्मृत्वाह **कङ्कणे**ति । तेन कङ्कणादीन्यत्र गोपिकाया उच्यन्ते । एवं क्रमोपि सङ्गच्छते । बाहुमध्यस्थकेयूरोपरि तस्या मुद्रिकादेः स्थितेः, अत्र आदिपदेन सुवर्णकङ्कणकाचकङ्कणनखशुक्तिप्रभृतयो मद्भृदयस्था अनेक उच्यन्ते । तेन सुष्ठूक्तं **लसद्भुज** इति । यद्वा । मुद्रिका आदिर्येषां ते तथेति । तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तथाच कङ्कणाङ्गदकेयूराश्च ते मुद्रिकादयश्चेति कर्मधारयः । तेन भगवदीयत्वपक्षेपि नाक्रमः ॥ १६ ॥

तदा क्रमेण कौस्तुभादेर्दृष्टत्वात् क्रमेण तद्वर्णयति **स्वर्णसूत्रे**ति ।

स्वर्णसूत्रसुविन्यस्तकौस्तुभामुक्तकन्धरः ।
मुक्ताहारोल्लसद्वक्षःस्फुरच्छ्रीवत्सलाञ्छनः ॥ १७ ॥

सुवर्णमयसूत्रेण सुष्ठु विन्यस्तो यः कौस्तुभो मण्याभरणं तेनामुक्ता व्याप्ता कन्धरा स्कन्धभागो यस्येत्यर्थः । तादृशकौस्तुभयुक्ता आसमन्तान्युक्ता विशाला च सा यस्येति वा कर्मधारयः । यद्वा । पूर्वं स्वर्णसूत्रेण सुविन्यस्तो यः कौस्तुभः पश्चात् रतिसमये एतज्जनितान्तरायासहिष्णुतया उत्तारितत्वात्तेन आसमन्तात् मुक्ता त्यक्ता कन्धरा यस्य स तथेति । **मुक्ताहारे**ति । मुक्ताहारैरुदुच्चैरतिशयेन लसत् शोभायमानं यद्वक्षस्तस्मिन् स्फुरत् प्रकाशमानं श्रीवत्सरूपं लाञ्छनं यस्य स तथा । यद्वा । मुक्ताहारोल्लसद्वक्षसा स्फुरन्ती या श्रीः तद्वत्सलाञ्छनः । यथा सा भगवन्नखपदाद्यङ्कितवक्षाः, तथा भगवानपि तन्नखपदकुङ्कुमकज्जलाद्यैस्तथेत्यर्थः । स्वकन्धरधृतबाहोः स्मृतावस्योक्तत्वात्तदा च राधाकरस्पर्शजनितरोमाञ्चानन्दादिना निसर्गत एव किञ्चिदुच्छूनावधिकं तथा भूतौ भगवतो हृद्यौ दृष्टाविति श्रीदृष्टान्तः । गोपीः परित्यज्य श्रीदृष्टान्तकर्त्र्या अयं भावः । तथाहि । यदि कस्याश्चिद्गोप्या निकटे स्यान्नाथस्तदा ममैतादृग्दुःखमेव न स्यात् । अन्योन्यं सर्वासां निष्कपटप्रीतेः विरहस्वभावात्, दुःखसम्भवे वा प्रिय एव सोढुं न शक्नुयात् । तत्सहनेपि वा ताः सोढुं न शक्नुयुः, बलादप्यत्रानयेरन् प्रियम् । सपदि चैतदभावाल्लक्ष्मीसमीप एवास्तीत्यलं विस्तरेण ॥ १७ ॥

आपीनहृदयो नीपमाल्यवान् बन्धुरोदरः ।
संवीतपीतवसनो रशनाविलसत्कटिः ॥ १८ ॥

आपीनेति । आसमन्तात् पीनं स्थूलं हृदयं यस्य स तथेति । स्तनयोर्मध्यदेशो वर्णितः । तस्योन्नतस्यैव सुन्दरत्वेन तथा । यद्वा । आसमन्तात्पीना गोपीकुचास्ते हृदये यस्येति । गोपीनामापीनहृत्स्वयत इति वार्थः । तदधःस्थां मालामाह **नीपे**ति । नितरामतिशयेन ई कामं पातीति नीपस्तद्रचितमालावानित्यर्थः । नीपशब्देन सूक्ष्मकदम्बकुसुमानि तद्वृक्षोप्युच्यते ।

तथाच हृदि कामजन्यकामरक्षकधारणेन सर्वदा सकामत्वं सूचितम् । तेनैवमपि स्वेष्टत्वं सूचितम् । **बन्धुरेति** । बन्धुरं निम्नोन्नतं मध्ये किञ्चिदुन्नतं पार्श्वयोरधश्चेषन्निम्नमेतादृशमुदरं यस्य स तथा । यद्वा । बन्धुपदेन हरिनामवत्त्वसाधर्म्यवन्तः सिंहा उच्यन्ते । तान् राति 'रलयोरभेद' इति न्यायेन लाति आदत्ते आत्मसात्करोति कार्श्येन तद्वन्धुरम् । एतादृगुदरं यस्येत्यर्थः । **संवीतेति** । संवीतं वेष्टितं पीतं वसनं यस्य स तथा । यद्वा । दिदृक्षाविषयाङ्गान्तरायत्वेन कदा वा भगवानिदं दूरीकरिष्यती उत्कण्ठिततया गोपीनां दृष्टिः पीतवसनमावृत्यैव तिष्ठतीति संवीतत्वं पीतवसनस्य । तथाच कर्मधारयः सम्पद्यते । यद्वा । यदा कदाचिन्मानकृतविरहकातरया राधया अकस्मात्प्रकटो दूराद्धावन्त्या समागत्य परिरब्धो भगवांस्तदा स्वहृदयभुजकङ्कणाञ्चलादिभिः पीतं वसनं संवीतमभूत् तत्स्मृत्वा सपद्यपि तथा कथं भवेदिति समनोरथं नामोक्तमिदम् । एतादृशदृष्टिसंवीतत्वस्यातिगोप्यत्वेन संवीतत्वमात्रमुक्तम् । अथवा । इहोत्तरीयस्य वर्णनम् । तदाश्लेषान्तरायत्वेन पूर्वं दृष्ट्यैव संवीतत्वं ज्ञेयम् । यद्वा । संवीतं सर्वदा वृतमेव वर्तमानं गुप्तरसावस्थानमिति यावत् । तत्र पीतं वसनं यस्य स तथा । यद्वा । सम्यग्भूतं कामरसरूपं यद्वममृतं तद्वान् संवीतः । पूर्वोक्तप्रदेश एव । तस्मिन् वीतं विगतं पीतं वसनं यस्येत्यर्थः । कर्मधारयो वा । समभिव्याहारवशात् पीतवसनेनैव, तेन वेष्टितत्वं ज्ञेयम्, गोपीभिर्वा । उक्तरीत्या संवीतं गोपीजनश्चासौ पीतवसनश्चेति । यद्वा । सम्यक् वीतं त्यक्तं गृहादिकं सन्ध्यायामभिसारे याभिस्ताः संवीता गोप्य इति यावत् । तासु पीतं वसनं यस्येति । रात्रिजागरणेन रतिश्रान्त्या चासावधानतया प्रातरुत्थानसमये भगवदीयं वस्त्रं तासु तदीयं वस्त्रं भगवतीति तथा । यदा भगवान् पूर्वं विविधबन्धैस्तासु परमरसप्राकट्यं करोति, तदा तद्रसस्वभावात्तथा रसाधिक्ये स्त्रीणां तथात्वात्तथैव रसो भवतीति तथा । यद्वा । सम्यक् वीतं त्यक्तं पीतवसनं रतिसमये येन स तथा । **रशनेति** । पूर्वं महामणिहीरकादिजटिता कनकसूत्रसूत्रितबदरीसोदरमुक्ताफलमध्या । शृङ्खलितरतिपतिजयघण्टिका घुर्घूरूप्रोता कनकमयी रशना तया विशेषेण लसन्ती शोभायमाना कटिर्यस्य स तथा । विपरीते गोपीनां रशनया वा तथा । स्वतः सुन्दरघनमेचककट्यां विविधरङ्गमण्यादिभिरधिका शोभा भवतीति विपदार्थः । (यद्वा । विपदेन पक्षिण उच्यन्ते । तथा च तान् लाति स्वस्वनसजातीयस्वनत्वेन सधर्मतया गृह्णातीति ला । एवञ्च, रशनपदेन सह कर्मधारयः संपद्यते । तथा सती शोभायमानेत्यग्रे पूर्ववत् । रशना विलसन्ती यया तादृशी कटिर्यस्येति वा । तस्यां रशनाकृतैव न शोभा, किन्तु सा स्वतः सुन्दरा । प्रत्युतैतत्कृता शोभा रशनायामिति भावः ।) यद्वा । गोपीनां रशनासु तथा सा यस्येत्यर्थः । तया विलसन्त्यो या गोप्यस्ताः कट्यां यस्येति वा । अथवा नृत्यं स्मृत्वेदमुक्तम् । अत एव भ्रमरिकाग्रहणेन चाकचक्याधिक्येन शोभायां विशेष उक्तः, तदा कटेश्चलनात् ॥ १८ ॥

एवं कटिं वर्णयित्वा क्रमप्राप्तं तदधःस्थितं पीताम्बरं वर्णयति **अन्तरीये**ति ।

अन्तरीयधटीबन्धप्रपदान्दोलिताञ्चलः ।

'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंशुक' इति कोशादन्तरीयपदं कटिस्थपीताम्बरपरमित्यध्यवसीयते। तथाच तस्य या धटी विस्तारे प्रान्तदेशो लोके 'धरीकिनारी'ति शब्दवाच्यस्तस्यां यो बन्धो बन्धनं तेन प्रपदे पादाग्रे आन्दोलितमञ्चलं यस्येत्यर्थः । कटिस्थपीताम्बरोक्त्यैव तत्र स्थित्यन्यथानुपपत्त्या बन्धनप्राप्तावपि यद्बन्धनिरूपणं तेन यथा नृत्यसमये कमलाद्याकारेण बध्यते, तथा बन्धनमत्राप्युच्यते । अत एव चाञ्चलस्य प्रपदे आन्दोलनम् । आन्दोलनोक्त्या मधुरनृत्यं ज्ञाप्यते । धटीबन्धपदमेव वा बन्धनप्रकारविशेषवाचकम् । तथा चान्तरीयस्य धटीबन्धने बन्धनप्रकारविशेषेण तथा तद्यस्येत्यर्थः । यद्वा । धटीपदेन गोपीनीव्युच्यते । तथाच यदा सर्वासूपविष्टासु स्वरहःकथामन्योन्यं शृङ्गारादिकं च कुर्वाणासु मध्ये भगवांस्तासामेव नीव्यादिपरिधानेन तद्वेषं कृत्वोपरिस्थूलवस्त्रेण वदनकमलं गोपयन् कतिपयसखीनां स्वशिक्षितानां मध्ये भूत्वैता यथा न जानन्ति तथा शनैः शनैर्मधुरया गत्या समायाति कौतुकार्थं, तदाञ्चलस्यैवं दृष्टत्वात्तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । अन्तरीयस्योपरि या धटी नीवी तस्याः बन्धे सति प्रपदपर्यन्तं आन्दोलितमञ्चलं यस्मिन्निति । यद्वा । रहसि कदाचिद्भगवान् राधा चान्योन्यमाश्लेषं कुरुतः । तदा भगवदन्तरीयस्योपरि या नीवी राधायास्तस्या अञ्चलं तदा तथैवेति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । तदैतादृशसुखदोऽधुना किमिति न तथेति भावः । यद्वा । अन्तरीये अन्तरीयस्थाने या धटी तस्या यो बन्ध इत्यग्रे पूर्ववत् । एतच्च रजनिजागरजनितालस्येनासमशरसमरजयजनितश्रमेण चाङ्गीकृतानवधानत्वस्य घूर्णायमाननयनस्य स्वपीताम्बरं त्यक्त्वा गोपीवसनमेवायथातथं वेष्टयित्वा गच्छतोञ्चलं तथेति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । यद्वा । नामद्वयमिदम् । तदा पादान्ते विसर्गो ज्ञेयः । तथाचान्तरीयधटी या गोपिकायास्तस्यां बन्धः करतलबन्धो यस्य स तथा । एतच्च प्रथमसमागमे व्रीडायां वा अन्तरार्ताया मिथ्यामानकृतनत्यनङ्गीकाराया वा निर्बन्धकरणे । यथा तदैवं स्वनिर्बन्धेन तथाकरणं, तथाधुनाऽस्मन्निर्बन्धेन तथा कर्तव्यमिति भावः। यद्वा। अञ्चलपदेन गोपिकाञ्चलमेवोच्यते । तथाच यदा भगवान् रहसि समायाति ताश्च कुङ्कुमादिसुगन्धद्रव्यजलैश्चरणकमले प्रक्षाल्य स्वाञ्चलेन प्रोञ्छनं कुर्वन्ति, तदा भगवतः प्रपदे आन्दोलितं तासामञ्चलं भवतीति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । अधुनापि तथैव कुर्वित्यभिप्रायेण ॥ १९ ॥

अग्रे ऊरुजान्वादीनां समयविशेष एव प्राकट्येनान्यदा पीताम्बरेणावृतत्वेनातिगोप्यत्वं तेषु जानन्तीतिताननुक्त्वा चरणारविन्दमेव वर्णयति । अथवाधुना तादृशावधानाभावेन पीताम्बरप्रसङ्गेनापि प्रपदस्मरणे जाते तत्संबन्धिचरणारविन्दमेवाग्रे स्मृतं वर्णयति, पूर्वं विस्मृत्य, **अरविन्दे**त्यादिना श्लोकद्वयेन ।

अरविन्दपदद्वन्द्वकलक्वणितनूपुरः ॥ १९ ॥
बन्धूकारुणमाधुर्यसुकुमारपदाम्बुजः ।
नखचन्द्रजिताशेषदर्पणेन्दुमणिप्रभः ॥ २० ॥
ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजराजच्चरणपल्लवः ।

अरविन्दरूपं यत्पदद्वन्द्वं तस्मिन् कलक्वणितान्यव्यक्तमधुरत्वेन शब्दायमानानि नूपुराणि यस्य स तथा । अरविन्दपदेन तापहारकत्वसरसत्वगोपीकुचकोकसहचरत्वादीनि सूचितानि । विरहतपनोद्भवे एवैतस्यापि प्राकट्यमित्यपि ज्ञापितम् । कमलस्य यथा सरसदेशमात्रे उत्पत्तिः तद्विशेष एव कुत्रचित्तथा । तथैतद्रसेनैव सरसहृदयविशेषस्य प्राकट्यमिति सूचितम् । तस्य च यथान्तर्ने जलमात्रमपि तु मकरन्दः तथा बन्धादिषु हृदयादिस्थापने यो रसस्तद्वत् । न तु ज्ञानविषयानन्दसामान्यवत् । तेन तदविषयत्वं तस्मादुत्तमत्वं च सूचितम् । अत एव द्वन्द्वत्वमुक्तम् । तेषामद्वैतदृष्टित्वात् । किञ्च । विकसितादेव हि कमलात् मकरन्दप्राप्तिः । स च तरणिकिरणसामानाधिकरण्ये । अत्र च विरहतापस्य तथात्वेन ज्ञानिनां च तदभावेन करौ तद्रसास्वादे । अपिच । सति तापे हि तदपहारिकमलाद्यन्वेषणं, तेषु तदभावस्योक्तत्वात् नात्रोपयोगः तेषां कश्चिदिति तत्त्वम् । तेन गोपीनामेव हृदये विकासो रसदातृत्वं चास्येति भावसर्वस्वम् । गोपीकुचकुङ्कुममेव परागोत्र । ध्वजादिरेषाः केसराः । अत एवैताभिरेव 'पूर्णाः पुलिन्ध्य' इति श्लोके तादृशकुङ्कुमस्यैव तापहारकत्वमुक्तम् । मकरन्दसंवलितस्यैव परागस्य तथात्वेन अत्रापि पूर्वोक्तसंवलितत्वं 'दयितास्तनमण्डितेने'ति पदेन सूचितम् । अत एव एतद्दर्शनमात्रेण स्मररुगपि संगच्छते, लिम्पनेन तदभावश्चेत्यलं विस्तरेण । कनकहीरकेन्द्रनीलमणिपरिष्कृतानि परितो विलम्बिमुक्तागुच्छानि तदग्रे विविधपदविरचितसूक्ष्मपुष्पाणि नूपुराणि तानि भ्रमरा इवेषच्चलनेप्यव्यक्तमधुरं शब्दं कुर्वन्तीति तथा । यद्वा । अरविन्देषु गोपीनां हृदयकमलेषु संलालनादौ करकमलेषु वा यत्पदद्वन्द्वं भगवतस्तस्मिन्नित्यग्रे पूर्ववत् । समयविशेषं स्मृत्वेदमुक्तम् । यद्वा । अरविन्दानां पदं स्थानं यमुनापुलिनमिति यावत् । तस्मिन् यानि द्वन्द्वानि भगवतो गोपीनां च रासे । तेषु तथेति । नृत्यं स्मृत्वेदमुक्तम् । एवं चरणस्योपरिभागो वर्णितः । यदप्यग्रे नखवर्णनमेव युक्तम् । क्रमप्राप्तत्वात् । तथापि यत्तलवर्णनं तत्रिभङ्गं स्मृत्वेति ज्ञेयम् । तत्र दक्षिणचरणतलस्यैव प्रथमं दर्शनात् । पश्चान्नखानामिति चरणतलं वर्णयति । अथवा । पूर्वं कदाचिद्विरहसंतप्तहृदया रहस्युपविष्टस्य भगवतश्चरणतलं विह्वलतया पश्यतीव परमार्त्या स्वहृदयेऽस्थापयत् । तेन च तापापगमे ततश्चरणमञ्जलौ गृहीत्वा पश्यन्ती पूर्वं तलमपश्यत्, पश्चान्नखानि । पुनः स्वेष्टत्वेन तलमिति पूर्वानुभूतम् । अधुनापि तादृश एव सन्तापोस्तीति चरणस्मरणमात्र एव प्रकरणात्तत्स्मृत्वाधुनापि तथा कथञ्चिद्भवेदिति समनोरथं नखानि विस्मृत्य तलमेव वर्णयति, ततो नखानि,

पुनस्तलम्। अत एव पुनरप्यम्बुजत्वनिरूपणम्। **बन्धूकेति**। बन्धूकोक्त्या रक्तपुष्पविशेषः। तद्वत्तस्मादपि चारुणं माधुर्यरूपं च सुकुमारं चेति सर्वत्र कर्मधारयः। तथाचैतादृशं पदाम्बुजं यस्येत्यर्थः। यद्वा। बन्धूकारुणपदेन कुङ्कममुच्यते। तेन माधुर्यं सौन्दर्यं येषां ते गोपीहृद्यास्तेषु सुकुमारं कमलाकरस्पर्शेपि म्लानिमिव भजमानं सुष्ठु कुत्सितो मारः कन्दर्पो यस्मादिति वा एतादृशं तद्यस्येति। एतेनातिकठिनेषु तेषु तादृशं पादाम्बुजं ददातीति गोपीनामर्थे भगवान् स्वक्लेशमपि न गणयतीति सूचितम्। अम्बुजार्थे श्लेषोपि ज्ञेयः। तत्रारुणेन सूर्येण तथा। **नखचन्द्रेति**। नखरूपेणैकेनापि चन्द्रेण जिताः तुच्छीकृता अशेषदर्पणेन्दुमणीनां प्रभा येन स तथा। नैर्मल्यचाकचक्यतापहारकत्वमण्डलाकारत्वान्यानभिभाव्यप्रभत्वेषु कस्मिन्नप्यंशे न न्यूनतेति दर्पणादित्रयग्रहणम्। सामान्यतः साम्याभाव उक्ते एकेन द्वाभ्यां वा साम्याभावेपि बहुभिर्मिलितैस्तैः साम्यं भविष्यतीति शंका स्यात् तद्व्युदासायाशेषपदं, तेनासम्भावितसाम्यत्वं पर्यवस्यति। दर्पणजयोक्त्या स्वाधरशोणिमाप्रतिबिम्बवत्त्वं सूचितम्। न ह्येवं दर्पणे। अत एव श्रीभागवते उत्तुङ्गरक्तेति नखविशेषणं, एतेनैवात्र प्रतिबिम्बितं बिम्बादपि कोटिगुणितं सुन्दरं भवतीति सूचितम्। दर्पणे तथाभावात्। इन्दुजयोक्त्या निर्मलत्वशश्वदखण्डत्वसूर्यप्रभाद्यनभिभाव्यत्वानि सूचितानि। तस्यैतद्विपरीतत्वात्। मणिजयोक्त्या सुमृष्टत्वेपि तथात्वमतिकोमलदेशप्रभवत्वमतिशयितभाग्यभाववद्धृदयभूषणत्वमन्तर्बहिरपि सूचितम्। तस्यैतद्वैपरीत्यात्। एतेषां च प्रभां विना स्वतोऽप्रयोजकानां प्रभैव सारभूतेति प्रभाजयोक्तिः। चाकचक्ये दर्पणस्य शैत्ये चन्द्रस्यापि लौहित्ये मणेरपि उपमानं दातुं न शक्यत इत्यपि दर्पणादित्रयोक्तेस्तात्पर्यं ज्ञातव्यम्। तेनाशक्यनिर्वचनसौन्दर्यवत्त्वं सूचितम्। अत एव जयोक्तिरेव, परं न त्वेतादृशमित्यपि। यद्वा। नखचन्द्रेण जिता वशीकृता या राधा तस्याः शेषभूता दर्पणादीनां सा यस्मादित्यर्थः। पूर्वं विरहतापवत्त्वेनातथाभूताया भगवत्सङ्गे जाते तादृशी शोभा जाता इति तथा। अत एव नखानां चन्द्रत्वनिरूपणम्। यद्वा, नखैर्नखदानैश्चन्द्रवच्छीतलैस्तापहारिभिर्दर्शनैश्च जिता रतिरणे या सा तया शेषत्वेन तुच्छत्वेन जातास्तेषां तापेनेत्यर्थः। त्रिभङ्गपक्षे द्वितीयपक्षे वा तापागमानन्तरं चरणकमलस्य हस्तयोर्ग्रहणे तत्सौन्दर्याभिनिविष्टचित्तायाः परितस्तद्दर्शने प्रथमत उपरिस्थितनखदर्शनं पश्चात्तलस्थरेखादर्शनमिति पूर्वं नखानि पश्चाद्रेखा वर्णयति। भगवद्दत्तरसाया राधायाः प्रातस्तादृश्येव शोभेति तथा। एवं नखानि वर्णयित्वा तत्तलरेखा वर्णयति **ध्वजवज्रेति**। चरणे निर्भयस्थित्यर्थं (ध्वजस्थापनम्।) विरहे हृदयरोधरूपमहापर्वतविदारणाय (वज्रस्थापनम्।) व्रजनाथमहारसमदमत्तगोपीमनोगजमानापनोदनाय (अङ्कुशस्थापनम्।) विरहतापापनोदनाय (अम्भोजस्थापनम्।) स्थापितानि यानि ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजानि तैः राजन् शोभायमानश्चरणपल्लवो यस्येत्यर्थः। नेतैतेषामेव कार्यार्थं कृपां कुरु इति भावः। पल्लव आम्रादेर्नूतनोङ्कुरः। चरणे

तन्निरूपणेन स यथा सरसवसन्त एव प्रादुर्भवति, नूतनकामजनको रसपोषकश्चातिकोमलस्पर्शस्तापहृद्रतितल्पोपयोगी च, तथेदं तादृग्रसेन सरसे गोपीनामेव हृदये प्रादुर्भवति कामजनकत्वादिष्वपि तथेति सूचितम् । नित्यनूतनत्वं च । यद्वा । एतादृशचरणे पल्लवा यस्येत्यर्थः । एतच्च यदा विरहसन्तापेन स्वहृदये पल्लवाः स्थापिता आसन् । तदैव च भगवत्यागतेतिविह्वलतया शीघ्रमेव तापशमनार्थं सपल्लव एव हृदये चरणावस्थापयत् । ततः सन्तापो व्यगमदिति । तत्स्मृत्वोक्तमधुनापि तथैव कुर्वित्यभिप्रायेण ॥ २०½ ॥

एवं प्रत्यवयववर्णनेपि तापानपगमेऽतिदुःखिता सकृत्सङ्गेनैव य एतादृशदुःखदः स पुनः किमिति मृग्यते इति शङ्कां दूरीकुर्वन्नेव स्वरूपाभिनिविष्टत्वेन समुदितं स्वरूपं वर्णयति **त्रैलोक्ये**ति ।

त्रैलोक्याद्भुतसौन्दर्यपरिपाकमनोहरः ॥ २१ ॥

त्रैलोक्येपि यदद्भुतमसम्भावितं सौन्दर्यं गोपीनां तस्य यः परितः पाको विरहतापेन अधरशोषस्तस्मिन्नपि भवति मनोहर एवेत्यर्थः । विरहेणातिक्लेशे मनोनिवर्तनेच्छायामपि मनसो हृतत्वेन धर्मिण एवाभावान्न निवर्तनं भवति । विषयस्याप्येतादृशस्वभावत्वादिति भावः । तथा चोक्तम् । 'गणयति गुणग्राममि'ति । 'रिपुरिव सखीसंवासोयमि'त्यादिना श्रीगीतगोविन्दे । यद्वा । त्रैलोक्येद्भुतं सौन्दर्यं यासां तादृशीनां गोपीनां परिपाके फलपर्यवसाने मनसो हरणं येन स तथा । तस्य फलरूपत्वेन यथा । यद्वा । गोपीनां तादृशं यत्सौन्दर्यं तस्य परिपाके सम्यङ् निष्पत्तौ सत्यां मनो हरतीति तथेत्यर्थः । एतच्च प्रातरारभ्य सन्ध्यापर्यन्तं पुष्पतल्पमालारचनस्वाभ्यङ्गस्नानानेकप्रकारनीवीपरिधानकेशप्रसाधनसुगन्धद्रव्यलेपनतिलकाञ्जनादिरचनाभिः सकलाङ्गसौन्दर्ये सम्पन्ने सन्ध्यायां भगवानागत्य मनो हरतीति तत्स्मृत्वोक्तम् । असमर्पितपरकीयवस्तुनो बलाद्ग्रहणं हरणम् । भगवति च (विविध) मनोहरत्वनिरूपणेन यत्र असमर्पितमपि गृह्णाति, तत्र समर्पितं मनोस्माकं गृह्णातीत्यत्र किमाश्चर्यमिति भावः सूचितः ॥ २१ ॥

एवं सन्ध्याकालीनस्य स्वरूपमुक्त्वा तदनन्तरं क्रमेण रहस्यागतस्य स्वरूपं वर्णयति ।

साक्षात्केलिकलामूर्तिः परिहासरसार्णवः ।
यमुनोपवनश्रेणीविहारी व्रजनागरः ॥ २२ ॥

केलिः कामकेलिः सैव या कला(स्वरूपं) तन्मूर्तिः । चतुःषष्टिकलासु मध्येऽन्यासां कलानां ज्ञाता कामकेलिकलायास्तु मूर्तिरूपएवेत्यर्थः । यथा दुर्गाद्यङ्गसमानाकाराङ्गत्वेन सुवर्णमय्या अपि मूर्तेर्दुर्गादिमूर्तित्वं प्रसिद्धम् । तथा केलिकलाया यत्किञ्चिद्धर्मवत्त्वेन भगवति तत्त्वं प्रतिपाद्यत इति शङ्काव्युदासार्थं साक्षात्पदम् । तथा च । यथा दिव्यदुर्गाशरीरे एव मूर्तिव्यवहारो देवानामेव, तथा केलिकलामूर्तिव्यवहारो भगवत्यस्माकमेवेति भावः । कलात्वनिरूपणेन सुरते विचित्रत्वं द्योतितम् । भगवतः

प्रत्येकाङ्गेषु दर्शनमात्रेण सुरतेच्छाजनकत्वस्य (आवश्यकत्वात् ।) सुरते च विविधबन्धकुशलत्वेनैतन्मूर्तित्वनिरूपणम् । यद्वा । साक्षादित्यव्ययस्य प्रत्यक्षत्वमर्थः । तथा च प्रत्यक्षा केलिकलास्वेव मूर्तिः स्वरूपं यस्य स तथा । दर्शनमात्रेण सुन्दरत्वेनैव ज्ञानं, न तु पूर्वोक्तसमय इव रसिकशिरोमणित्वादिज्ञानमपीति भावः । निमित्तसप्तमी वा केलिकलास्वित्यत्र । एवं रतिसामयिकं प्रियं वर्णयित्वा तदैव तद्रसपोषकरसान्तरवत्त्व(करणत्व)माह **परिहासेति** । परिहासपदेन हासजनकवचनान्युच्यन्ते । तेषु यो रसः तद्रूप एव वा, तस्यार्णवरूप इत्यर्थः । यदा भगवान्नर्मवचनानि वदति, तदैकस्यापि वचनस्य यो रसस्तत्रैव निमग्नास्वेव गोपीषु सतीषु, यदा भगवान् द्वितीयं तादृशमेव वदति, तदा पूर्वरसस्यैव पारमपश्यन्त्य एव पूर्वस्मादधिकोर्मिभिरिव द्वितीयसमुद्र इव ततोधिके निपतन्ति । एवमेवोत्तरोत्तरमिति हृदयम् । अत एव रसस्यैव प्राधान्यं वचनानां नेति ज्ञापनाय रसपदम् । वचनबहुत्वे रसाल्पत्वे च रसाभावात् । अत एव नयनभ्रुवादिभिरपि हास्यरसोत्पत्तिः । अन्यच्च । रसिकसिद्धान्ते हि शृङ्गार एव रसः । वीरादयस्तत्पोषकत्वेन एव रसा नान्यदा । यथा महाराजस्य सर्वोपकरणान्यपि सुवर्णमयान्येवान्यस्यैतस्मात्तुच्छत्वेन धातुत्वमेव न मन्यन्ते । एतदेव रसपदेनोच्यते । अन्यथास्मिन्नसे रसान्तरस्य रसाभासजनकत्वं स्यात् । अत एव रत्यां विमर्दित्वाभिप्रायेण 'केशिमथनमुदारं मधुसूदनमुदितमनोजमि'त्यादिभिर्जयदेवैः गीतगोविन्दे निरूपितम् । अन्यथा वीररसजनकं नाम कथं प्रयुञ्ज्यात् । अत एव रतिरणप्रयोगश्च । यद्वा । गोपीकृतो यो नर्मरसः स अर्णवो यस्येति । यदा भगवान् गोप्यश्च अन्योन्यं नर्मवचनानि वदन्ति, तदा भगवान्नर्मणा ता जेतुं न शक्नोतीत्यर्थः । रसिकरीतिरेवैषा इति न कश्चिद्दोषः । स्वजयापेक्षयैवं रसोपि महानिति तथा । भगवति पूर्वं वृन्दावनचन्द्रत्वनिरूपणेन सपदि परिहासरसस्यार्णवत्वनिरूपणेन अस्य प्रतिक्षणं वृद्धिः सूचिता । यद्वा । तद्विषयेर्णवरूप इत्यर्थः । पूर्वोक्तार्थवैपरीत्यमत्र ज्ञातव्यम् । यद्वा । यदागमनमुक्त्वा सन्ध्यायां नागमत् प्रियः प्रातश्चागमत्तदा मानवत्यां राधायां नर्मवचनैस्तथाकरोतीति यथा तद्रसे एव निमग्ना सती विस्मृतपूर्वदुःखमानादिर्बहिरप्यनुरक्ता भवतीति स्मृत्वेदमुक्तम् । अर्णवत्वं निरूपयन्त्या नर्मरसे प्रकटीभवद्दन्ता एव मणित्वेनाभिप्रेताः । एवं तापापगमार्थं हास्ययुतरमणकर्तारं निरूप्य तदनन्तरमसञ्जातकामपूर्तिर्भगवांस्तादृशीमेव राधां हस्ते धृत्वा विशेषक्रीडार्थमनयद्यमुनातीरप्रतिनिकुञ्जमरीरमच्चेति तत्स्मृत्वाह **यमुनेति** । यमुनासम्बन्ध्युपवनानां याः श्रेणयः पङ्क्तयः तासु विहारी क्रीडाकर्तेत्यर्थः । क्रीडा द्विविधा जलस्थलभेदेन । तत्र केवलस्थललीला पूर्वोक्ता । अत्रोभयमप्युच्यते । तेन यमुनायां तदुपवनश्रेणिषु च तथेत्यर्थः । प्रतिवृक्षं रमणमिति ज्ञापनार्थं श्रेणीपदम् । विहारो यथेच्छममर्यादलीला । तेन व्रजन् तिष्ठन् शयान उपविष्टोपि लीलां कृतवानिति सूचितम् । यद्वा । यमुनाया उप समीपे यद्वनं तत्र या श्रेणयो गोपीनां तासु तथा । यद्वा । पूर्वोक्तासु वेः कालस्य हारी हर्तेत्यर्थः । भगवत्सङ्गे सम्पूर्णा अपि रात्रयः क्षणार्धवन्नीयन्ते

तदभावे युगप्राया: । तत्र वस्तुतस्ता महत्य एव भगवत्सङ्गे तासामल्पत्वं यत्तद्भगवान् महान्तं कालं दूरीकरोतीति तासां बुद्धिः । तेनैवमुक्तम् । नन्वेवं स्वच्छन्दलीलायां क्रियमाणायां व्रजस्थाः कथं न जानन्तीति चेत्तत्राह । व्रजे सर्वस्मिन्नेव भगवानेव नागरोतिचतुरः । स्वच्छन्दलीलामपि कृत्वा स्वचातुर्येण तथा करोति यथा कोपि लक्षतेपि नेत्यर्थः । ज्ञाने तथा रसो न भवतीति तथा । इदमेव भागवते 'नासूयन्खलु कृष्णाये'ति श्लोके निरूपितम् । एतेनैव दिवापि यथेच्छं ताभिः सह भगवान्क्रीडतीति परमभाग्यवता ज्ञेयम् । यद्वा । व्रजपदेन तत्रस्था गोप्य एवोच्यन्ते । तथा च तास्वेव कामलीलायां बन्धादिभिरतिचतुर इत्यर्थः । अन्यत्र मुग्ध इवेति भावः । यद्वा । पूर्ववदन्यया कयाचित्सह यमुनोपवनप्रतिवृक्षं विहरन्यदि भगवान् दूरं गतो भविष्यति व्रजात्तदा कथमधुनैव प्राप्तिः इत्यत आह **व्रजेति** । व्रजनगरसम्बन्ध्येव, भगवानतो नान्यत्र गमिष्यतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

तर्हि मिलिष्यत्येव कुतो महद्दुःखं क्रियते इत्यत आह **गोपाङ्गनेति** ।

गोपाङ्गनाजनासक्तो वृन्दारण्यपुरन्दरः ।
आभीरनागरीप्राणनायकः कामशेखरः ॥ २३ ॥

गोपसम्बन्धिन्यो या अङ्गनास्ता एव जना दास्यस्तास्वासक्त इत्यर्थः । तेन ताः परित्यज्य कथं मत्सन्निधावागमिष्यतीति भावः । ननु भवत्यपि तादृश्येव ततोधिकापि कथं तास्वेवासक्तो न भवत्यामिति शङ्का जनपदेन वारिता । ताः दासीभावं प्राप्ता निरभिमानास्तेन तासु तथा । मम तु तद्रसमदेनैव सञ्जातमानत्वात् न तथात्वमिति भावः । एतेनैव नन्वधुना भवत्यपि तादृश्येवेति शीघ्रमागमिष्यत्येवातो न दुःखं कर्तव्यमित्यपि समाधानवचनं परिहृतम् । ता बह्व्यः, तत्रापि पुंभावं प्राप्ता रसाधिक्येन । 'रसाधिक्ये स्त्री पुंभावमापद्यत' इति वात्स्यायनः । तेन यदि भगवानागमिष्यत्यपि कदाचित्तदा ता न गन्तुं दास्यन्ति । भगवांश्च तद्वशग इति ता अतिक्रम्य न गच्छतीति जनपदप्रयोक्त्या भावः । आसक्त्या स्वतोप्यशक्यस्तत्त्याग इति सूचितम् । ताभिः सहागमनपक्षे पूर्वोक्तं दूषणम् । स्वपत्यादिपरित्यागपूर्वकं दासीभावं प्राप्ता इत्यपि हेतुरासक्ताविति ज्ञापनार्थं गोपसम्बन्धनिरूपणम् । सर्वथाऽनासक्तौ परं महत्कष्टम् । कुत्रचिच्चेदासक्तस्तदा कदाचिन्मय्यप्यासक्तो भविष्यतीत्याशालतावलम्बनकदम्बायितमासक्तिनिरूपणम् । एवमुक्ते राधया मयैतादृशोपि कथञ्चिदाकार्यानेयस्त्वं निर्दिश कुत्रास्तीति कयाचिदुक्ते निर्दिशन्निवाह **वृन्दारण्येति** । वृन्दारण्यस्य वृन्दावनस्य पुरन्दर इन्द्रः स्वामीत्यर्थः । न हीन्द्रः कुत्रचिदप्रसिद्धो येन मत्कथनापेक्षात्र । वृन्दावनं गता त्वमेव ज्ञास्यसीति भावः । वृन्दावनोक्त्या स्थलनिर्देशोपि विशेषानुक्त्याऽनिर्देशोपीति चातुर्यमेव तस्याः । यथेन्द्रस्त्रैलोक्यस्वाम्यपि देवलोक एव तत्रापि स्वलोक एव तत्रत्याङ्गनाभिः सेवितो वर्तते । तथा भगवान् कोटिब्रह्माण्डपतिरपि गोकुल एव तत्रापि वृन्दावन एव तत्रापि स्वलोके स्त्रीप्रधाने

गोपीभिः सह क्रीडतीति हृदयम् । देवलोकमात्रे न दुःखं सुतरां इन्द्राधिष्ठिते, अतोऽनुचितं मद्दुःखमत्र दर्शनादिदानेन दूरीकुरु इति भावः । ननु तर्हि दुःखासम्भवः । सत्यम् । लौकिकवैदिकव्यवस्थैषा न तु तदतीतेति । तथाहि । स्वर्गे हि केवलपुण्योपार्जितं शरीरम् । तेन सुखाप्तिरेव, न दुःखाप्तिः । तत्साधनपापोपार्जितत्वाभावात् । अत्र च 'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' इति वचनेन पापमात्राभावे भगवद्भक्तिलाभात् पापकृतं नैतद्दुःखम् । दुःखत्वेन पापजन्यत्वसाधने चोपाधिरुक्त एव । एवं सुखमप्यत्र ज्ञेयम् । अतोस्मिन्नलौकिकतमे प्रमेयमार्गे सुखं दुःखं च भगवत्सङ्गविरहाभ्यामेव भवतीति तत्त्वम् । अत एव दशमस्कन्धे अन्तर्गृहगतकथानिरूपणप्रस्तावे भगवत्सङ्गमभगवद्विरहजनितसुखदुःखयोः कर्माजन्यत्वमित्येव निरूपितम् । एतदेव च श्रीभागवते 'आसामहो चरणरेणुजुषामि'ति श्लोके 'स्वजनमार्यपथं च हित्वे'ति पदाभ्यां निरूपितम् । अत एव तादृशजन्मप्रार्थनापीत्यलं विस्तरेण । नन्वेतावदनुसन्धाने तादृशस्य विरहे कथं प्राणस्थितिरित्यत्राह **आभीरे**ति । आभीरसम्बन्धि यन्नगरं गोकुलं तत्सम्बन्धिन्यो या स्त्रियोतिचतुरास्तासां ये प्राणास्तेषां नायको रक्षक इत्यर्थः । तेन तदिच्छयैव परं प्राणस्थितिः । न तु मत्प्रयत्नेनेति भावः । गोकुलवासिनां सर्वेषां राजवन्नियामकोऽस्माकं तु प्राणानामपीति स्वोत्कर्षः सूचितः । तेनान्तरङ्गत्वमुक्तम् । तथा च यथा देशरक्षको राजा तत्र स्थित्वा तं देशं पालयति, तथा भगवान् प्राणेषु स्थितः स्वयं प्राणान्पातीत्यर्थः सम्पद्यते । यद्वा । यथा पूर्वोक्तान्नयतीति तथा । एतेन भगवता स्वस्मिन् मत्प्राणा नीता स्वयं चास्मद्धृदय एव तिष्ठतीति न बहिरुद्गमः प्राणानामिति भावः सूचितः । यद्वा । सेषद्रोषदैन्यमाह । **आभीरे**ति पूर्ववत् । एतेन यः प्राणहर्ता स कथं तत्स्थितिसाधनं सङ्गं करिष्यतीति भावः सूचितः । अत एव नागरीत्वकथनम् । लोके हि चतुररक्षितं वस्तु न प्राप्यते । अत्र च तादृशीनामेव तत्राप्यन्तःस्थितप्राणान्नयतीति भगवत्यपि चातुर्यं सूचितम् । अत एव श्रीभागवते ये दुर्गस्थास्त एव कठिनाः तत्रापि जलदुर्गस्थास्तत्रापि साधुजाताः प्रभवस्तत्रापि प्रकाशवति काले शीताद्युपद्रवरहिते स्थिता इति देशकालस्वरूपादिभिरप्यशक्यचौर्यात् पुरुषात् तदुदरवर्तिसर्वस्वनेतुरस्मदादिसाधारणगोपीप्राणहरणे किमाश्चर्यमिति 'शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषादृशा' इति ताभिरेव निरूपितम् । यद्वा । त्वमपि तद्वन एव वर्तसे, त्वयि कथं न तथेत्यत आह । आभीरसम्बन्धिन्यो याश्चतुराः तासामेव प्राणरक्षको न तु मत्सदृशीनामचतुराणां, यतो न प्राणबाधायामप्यागच्छतीति । स्वयं चतुरापि दुःखेनैव दीना एवमुवाच । पूर्वोक्तप्राणश्चासौ तन्नायकश्च इति कर्मधारयो वा । यद्वा । पूर्वोक्तनामनिरूपणेन तत्रत्यपूर्वसङ्गस्मरणेनातिप्राणबाधायां शीघ्रमागत्य पालय, त्वमेव मत्प्राणपाता, नान्य इत्यभिप्रायेण चेदं नामोक्तम् । एवमुक्तेप्यतिपीडायां कामेन तु क्रमेणान्तिमावस्था शीघ्रमेव भवति तेनापि दुःखनिवृत्तिः, भगवान्

तामपि न करोति, न वा मिलतीति कामादपि लोकोत्तररीतिरित्याह **कामे**ति । कामादपि शेखरभूतोऽलौकिकरीतिरित्यर्थः । यद्वा । नन्वनङ्गसेनारूपत्वाद्भवतीनां प्राणरक्षामनङ्ग एव करिष्यति तावत्पर्यन्तमित्यत आह **कामे**ति । कामस्यापि शेखरोत्युच्चैःस्थितो नियामक इत्यर्थः । तेन भगवता अहं परिगृहीता, न तद्वशगेत्यर्थः । यद्वा । सर्वस्य लोकस्य शेखरभूतः कामः सर्वेषां चक्षूरागादिमरणान्तावस्थाः करोति तथा भगवान् कामस्यापि शेखरः तस्यापि तावदवस्थासम्पादक इत्यर्थः । यद्वा । प्रथमासक्तिहेतुभूतं नामाह । **कामे**ति पूर्ववत् । कोटि-कन्दर्पलावण्य इत्यर्थः । एतादृशसौन्दर्येण वशीकृतमानसा किं करोमीति भावः । यद्वा । कामः कामना मनोरथ इति यावत् । तथा च तस्यापि शेखरोतिदूरे स्थितोऽविषय इत्यर्थः । मनोरथे ह्यसम्भावितमपि भासते वस्तु, भगवत्सौन्दर्यानन्दादिकं तु मनोरथस्यापि न विषयोऽस्त्यलौकिकत्वादिति । तथा चोक्तं श्रीभागवते 'मनोरथान्तं ययुरि'ति । अत्र बहुव्रीहिर्ज्ञेयः । यद्वा । कामः तृतीयः पुरुषार्थः । कामक्रीडेति यावत् । तस्यां शेखरोऽतिविदग्ध इत्यर्थः ॥ २३ ॥

एवं स्थलक्रीडायामुच्यमानायां जलक्रीडास्मरणे यथा यदा कदाचित् गृहकृत्येनान्येन वा निरोधेन दिवा भगवत्समीपे गमनं नाभूत्तदा स्नानादिव्याजेन पारं गमिष्यामीति व्याजेन वा प्रियं यमुनातीरगतं सख्यादिभिरवधार्य यमुनामगमत्तत्र चैतदर्थमेव तत्कृतनाविकत्व-मिषस्य दर्शनाश्लेषादिनातिचिरविरहतापमपाकरोत् तथाधुनापि तापसत्त्वेन तदपगमार्थं पूर्वानुभूतमेवाह समनोरथम् । **यमुनानाविक** इति ।

यमुनानाविको गोपीपारावारकृतोद्यमः ।
राधावरुन्धनरतः कदम्बवनमन्दिरः ॥ २४ ॥

नौकोपजीवी नाविक इत्युच्यते । एतेन यथा विरहावस्था तासां तथा भगवतोपि इति सूचितम् । घट्टविशेषोक्तिरहितेन सामान्ययमुनानिरूपणेनैकान्ते कृतसङ्केते यमुनामात्र एव विनोदार्थमेव तथा करोतीति सूचितम् । अथवा । पूर्वनामोक्तलीलास्मरणेऽतिपीडायां कथं चैतद्दुःखसमुद्रं तरिष्यामीति चिन्तयाना तत्साधनीभूतनौकास्मृतिमात्र एव स्मृतपूर्वा-नुभूतनौकासुखा त्वमेवैतत्पारनेता नान्य इत्यभिप्रायेण च नाविकत्वनिरूपणं कृतवती । एवं पूर्वमेकाकिना भगवता जातं स्वसङ्गमभुक्त्वा तदनन्तरमिदं ज्ञात्वा सर्वा गोप्यः समा-गतास्ताभिरपि लीलां कृतवानिति तत्स्मृत्वाह **गोपी**ति । गोपीसम्बन्धी यत्पारावारं परपारमर्वाक्पारं च तद्विषये कृत उद्यमः प्रारम्भो येनेति योजना । इदमत्राकूतम् । याः समागतास्तन्मध्ये काश्चन प्रथमागता भगवद्गोपीसम्बन्धानभिज्ञाः सन्ति । तेन ता यथा न जानन्ति तथा भगवान् मिलत्वित्येतासां हृदयं ज्ञात्वा भगवान् प्रथमं पारकरणमेवोद्यममात्रं कृतवान् । पश्चाद्यमुनाया मध्ये नीत्वा ता अपि स्वलीलावशाः स्वकीयाः कृत्वा तथैव यथेच्छं रेमे इति भावः । अत एवोद्यममात्रनिरूपणम्, न

तु पारोत्तारणस्यापि । आयासेनारम्भ उद्यम उच्यते । तेन या नारोढुं शक्तास्ता स्वयं क्रोडे कृत्वाप्यारोहयतीति सूचितम् । एतेनैतल्लीलायामेव भरो नान्यत्रेत्युक्तं भवति । यद्वा । कासाञ्चित् परपारे सङ्केतस्थलं कासाञ्चिदर्वाक् पारे । तथा च गोपीसम्बन्धि यत्पारावारं तद्विषये तद्गमनार्थं कृतः स येन स तथा । एवं कष्टसाध्यपारगमनोद्यमनिरूपणेन भगवानेतासामर्थेऽशक्यमपि करोतीति सूचितम् । एतेन तदैतादृशो भगवान् कथमधुना नेति सोपालम्भं दैन्यं प्रकटितं भवति। यद्वा। गोपीरूपो यः पारावारः समुद्रः तदर्थं कृत उद्यमोऽवतरणादिकं येनेत्यर्थः। तदुक्तम् । 'व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्री'ति । 'व्यक्तं भवान् व्रजजनार्तिहरोऽभिजात' इत्यादिश्च। समुद्रत्वं रसांशे । एवं सर्वाखिष्टकर्तृत्वं भगवति निरूप्य ततोपि स्वस्मिन्नत्यनुरागमाह **राधेति** । राधाया यदवरुन्धनं रोधस्तस्मिन् रत इत्यर्थः । इदानीं केवलं लीलाभिनिविष्टत्वेन स्वानुसन्धानाभावादन्यस्या इव स्वनामाप्युक्तवती । अन्यथा मदवरुन्धनेत्युक्तं स्यात् । इदं च यदा कदाचिद्भगवन्मिलनार्थमेव दिवसे भगवदर्थं पक्वान्नशिखरिणीनिःपीडितदधिशर्करासुश्रुतदुग्धताम्बूलचन्दनमालादिकं रहसि गृहीत्वा गोरसविक्रयमिषेण वने भगवन्निकटे कतिपयसखीभिः सहागता तदा गोपसहितो नाथस्तेषामज्ञानार्थं दानमिषेण सर्वा एवाकारितवांस्ततोन्याभ्यः किञ्चित्स्वेष्टं गृहीत्वा ताः प्रस्थाप्य यं बहु नयति तेन बहु ददाति चेत्तदा प्रस्थापनीयेति तेषु वदन् दर्शय किं वर्तत इतीमां वदति । न देयं च मया किञ्चिन्न दर्शनीयं न वा देयमिति समुदायाभिप्रायेण वदन्ती सस्मितं प्रियवदनमपश्यत्तत्स्मृत्वोक्तवती । रतत्वं तदेकपरत्वम् । तथा चैतदर्थमेव तत्र तिष्ठतीत्यर्थः । तदनन्तरं मयैकान्त इयं बोधनीया यथा ददाति तावद्भवन्तो गाश्चारयन्त्विति तानुक्त्वेमां निबिडकदम्बनिकुञ्जं नीत्वा तया सह तत्सर्वं भुक्त्वा यथेच्छं तत्रैव रेमे तदाह **कदम्बेति** । कदम्बवनमेव मन्दिरं यस्य स तथा । बहुसंस्कारसंस्कृतं नानाविधचित्रं मन्दिरमुच्यते । तेनात्रापि विविधपुष्पदलैर्मालाभिश्च तल्पासनवितानद्वारतोरणभूमिकादयः प्रातरेव प्रेषिताभिः स्वसखीभिर्विरचिता इति सूचितम् ॥ २४ ॥

तदनन्तरं दूतिभिरत्र भगवन्तं ज्ञात्वा येन केनचिद्व्याजेन सर्वास्तत्र समागताः ततस्ता अपि रेमे इति तत्स्मृत्वाह क्रमेण ।

व्रजयोषित्सदाहृद्यो गोपीलोचनतारकः ।
जीवनानन्दरसिकः पूर्णानन्दकुतूहलः ॥ २५ ॥

व्रजयाषिदिति सामान्योक्त्या सर्वा एव समागता इति ज्ञेयम् । तथा च व्रजयोषितां सदा हृत्सम्बन्धी तत्र स्थित्वा सर्वदा रमणकर्तेत्यर्थः । यद्वा । एतासां सर्वदा हृद्यः प्रिय इत्यर्थः । तेन भोगानन्तरं तादृश्यार्तिरस्ति न वेति शङ्का परिहृता । एताः सर्वदा हृद्या यस्येति वा । तेनान्योन्यं तथात्वेन कदाचिदपि न वियोग इति सूचितम् । हृत्सम्बन्धीति व्याख्यानेपि बहुव्रीहिर्ज्ञेयः । तेन विपरीतमुक्तं भवति । तेन महासौरतं द्योतितम् ।

तत्र कदाचित्कौतुकार्थं तासां स्वस्य चेच्छया तासामेव नीव्यादिपरिधानेन तद्वेषमपि करोतीति ज्ञापनार्थं व्रजयोषिदिति पदमुक्त्वा मध्ये सदेत्युक्तम् । अन्यथा प्रथममेवोक्तं स्यात् । एतद्वेषस्यातिगोप्यत्वेनैवं निरूपणम् । एवं भगवतो गोपीनां चान्योन्यमान्तरमुक्त्वा सर्वदैवं रमणे हेतुं वदन् बाह्यमप्याह **गोपीलोचनतारकः** । गोपीनां सर्वासामेव यानि लोचनानि तेषां तारकारूप इत्यर्थः । यथा सत्यपि गोलके तारकाच्छादनं चेत्स्यात्, न दृश्येत, तथा भगवदसन्निधानं चेत्स्यात्तासां तदा स्वावलोकनमपि न स्यादित्यर्थः । अत एव सर्वदा तथेति भावः । उपलक्षणमेतत् । सर्वेन्द्रियविषयेष्वप्येवमेव । यद्वा । गोप्यो लोचनतारका यस्येति । यद्वा । गोपीलोचनानां तारक उद्धारक इत्यर्थः । विरहे लोचनानां जलसमुद्र इव निमग्नत्वेन भगवत्सम्बन्ध एव तत्सम्बन्धराहित्येन तत्पारमिव गच्छतीति तथा । एतेन न हि कोपि निमज्जन्तं पश्यन् स्वयं समर्थः तदेकपरश्च नोद्धरति । क्षणविलम्बे एव तन्नाशात् । तेन मदुपेक्षा नोचितेति भावः सूचितः । यद्वा । पूर्वं स्वरूपनिरूपणे आननस्येन्दुत्वोक्त्या तस्य च तारकासाहित्यनियमेनास्येन्दोरेतान्येव तारकारूपाणीत्याह । गोपीलोचनानि तारका यस्येति । एतेन सर्वदा दर्शनं सूचितम् । ननु यद्येवं तदा भवती कथं तिष्ठति भगवान् वा कथं तिष्ठतीत्याशङ्कायामाह **जीवनानन्दरसिकः** । जीवनरूप आनन्दो यस्य स तथा । स चासौ रसिकश्च इति कर्मधारयः । अथवा । तादृश आनन्दे रसिको रसज्ञ इत्यर्थः । तथा च भगवदीयानन्दस्यैव जीवनरूपत्वेन पूर्वदत्तस्यान्तःस्थितत्वेन मज्जीवनमात्रं न तु सुखं दुःखाभावो वा । सङ्गाभावस्य बलिष्ठत्वात् । तदुक्तम् । जीवति परमिह तव रतिकलयेति । यथा च विरहसन्तप्यमानायाः प्रियदौर्लभ्येन चात्यातुरायास्ततः प्रियसङ्गमे महान् रसो न तथा सार्वदिकेपि तस्मिन्निति तद्रसविशेषार्थं रसिकत्वेन भगवतः स्थितिरित्युभयस्थितौ हेतुद्वयमुक्तम् । यद्यपि भगवत्सङ्गमः सार्वदिकोपि तथैव तथापि रसमार्गस्थेन हि भगवता रसमार्गमर्यादा स्थाप्यते । सा च तादृश्येवेति तथोक्तम् । यद्वा । स्थलक्रीडामुक्त्वा जलक्रीडामाह **जीवने**ति । जीवनं जलं तत्सम्बन्धी य आनन्दो जलक्रीडारूपस्तस्मिन् रसिक इत्यर्थः । यद्वा । जीवनेन जलेनानन्दो येषां ते मत्स्यास्तद्वद्रसिको रसज्ञः । यथा ते जलं विना क्षणमपि न तिष्ठन्ति तथेमं रसं विना भगवान् न तिष्ठतीत्यर्थः । अत एवागमिष्यतीत्याशया तिष्ठामीति भावः । एवं क्रीडामुक्त्वा तदनन्तरं भगवान् उपविश्य तिष्ठन् वा या लीलाः कृतवान् ताः स्मृत्वाह **पूर्णानन्दकुतूहलः** । स्थलजलक्रीडादिना पूर्ण आनन्दो येषु गोपीजनेषु तेषु कुतूहलं क्रीडाविशेषो यस्य स तथा । एतच्च क्रीडाद्वयानन्तरं कन्दुकाकारान् पुष्पनिर्मितान् भगवान् गोपीषु प्राक्षिपत् । ताश्च भगवति । तेन महानानन्दः सहास उत्पन्नस्तत्स्मृत्वोक्तम् । यद्वा । अवज्ञापूर्वकसोपहासलीला कुतूहलम् । तथा च पूर्णानन्दः कुतूहलेपि यस्येत्यर्थः । यद्वा । पूर्ण आनन्दो अस्मास्विति ज्ञानयुक्ता ज्ञानिनः पूर्णानन्दपदेनोच्यन्ते । तथा च ते कुतूहले उपहासे यस्येत्यर्थः । किमेतेक्षि मुद्रयन्ति किंवा शून्यं ध्यायन्तीति गोपीभिः सह भगवांस्तानुपहसतीति तथा ॥ २५ ॥

एवं सर्वाधिकरसदातृत्वं निरूप्य क्रीडानन्तरमुपविष्टं स्मृत्वाह **गोपिकेति** ।

गोपिकाकुचकस्तूरीपङ्किलः केलिलालसः ।
अलक्षितकुटीरस्थो राधासर्वस्वसम्पुटः ॥ २६ ॥

गोपिकानां या कुचसम्बन्धिनी कस्तूरी तया पङ्किल इत्यर्थः । तस्याः पङ्कत्वं महासौरते श्रमजलकणैः । एतेन भगवत्यपि श्रमः सूचितः । तथा च तद्व्यासाङ्गो यदा तासां सदस्युपविष्टोभवत्तदा सौन्दर्यमनिर्वचनीयमनुभूतमिति एवमुक्तवती । यद्वा । यदा सन्ध्यायामागमनमुक्त्वान्यत्र रात्रिं गमयित्वा प्रातरागत्य केनचिद्व्याजेन रात्रिरमणं गोपयत उरःस्थलं दृष्ट्वा तन्निश्चितवती तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । यद्वा । गोपिकाकुचाः कस्तूरीपङ्किला येनेत्यर्थः । पूर्वं कस्तूरीपत्ररेषा अनार्द्राः स्थिताः, ततो भगवता रमणे कृते श्रमजजलकणैरार्द्रतायामाश्लेषादिना तथात्वम् । अथवा, सर्वाङ्गे भगवानेव तादृशस्तेनासंख्यगोपीरमणं सूचितं भवति । एतादृशबहुरमणेप्येकरस एवेत्याह **केलिलालसः** । केलिषु कामकेलिषु लालस इच्छापूर्तिरहित इत्यर्थः । यो हि यत्र लालसायुक्तः स तमर्थं यथाकथञ्चित्साधयति । तथा भगवानस्मिन्नंश इत्यर्थः । तेन सर्वदा तद्भाववत्त्वेन तत्प्रयत्नवत्त्वेन च सर्वदा रसदायीति सूचितम् । तासां सार्वदिको भावो व्रजयोषित्सदाहृद्य इति नाम्नैवोक्तः । अतो न रसाभावशङ्का । एतच्च कदाचिद्बहुरमणानन्तरमपि स्वस्मिन्मानवत्यां बहुधा चाटुकारान् कृत्वा मानयित्वा पुनर्बहुधा रेमे तत्स्मृत्वोक्तवती । यद्वा । बहुधा रमणे कृतेपि प्रियस्वरूपदर्शनादेव पूर्वस्मादप्यधिका लालसोत्पद्यत इति स्वानुभूतं स्मृत्वाह । तेषु लालसा यस्मात्स तथेति । ननु शङ्कायां सत्यां न रसोत्पत्तिः । अत्र चैवं स्वच्छन्दरमणे कोपि चेदागच्छेज्जानीयाद्वा तदा कथं स्यादित्यत आह **अलक्षितकुटीरस्थः** । न लक्षितान्यपि केनापि कुतो दृष्टानि एतादृशानि यानि कुटीराणि लतागृहाणि तेषु तिष्ठतीति तथा । तेन कियत्कालमपश्यन्तो यद्यन्वेषमाणा आगच्छन्ति तदापि न जानन्तीति न रसविच्छेदः कदापीति सूचितम् । वस्तुतः तेषां पार्श्वस्थबुद्धिरेव सततमतो नानुपपन्नं किञ्चित् । तथा चोक्तं 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि'त्यादि । यद्वा । यत्र परितो लतागृहाणि मध्ये चोपवेशनस्थानम् । तत्र सर्वा आगच्छन्तु भवत्यो मयाप्यागम्यते इत्युक्त्वा तत्पूर्वमेव तत्र गत्वा एकस्मिन् गृहे गुप्तोऽतिष्ठत्, ततः सर्वा एतदजानन्त्यस्तत्रागत्य स्वरहःकथामन्योन्यं कुर्वाणा भगवान् यदा मिलिष्यति तदैवं कर्तव्यं मयेति ब्रुवाणा निर्धारितभगवदागमनप्रोद्यदुत्साहा अमर्यादं विजह्रुः । ततः कियत्कालानन्तरं भगवता लीलया सीत्कारविशेषे असाधारणे कृते तत्क्षणमेव सर्वासु तूष्णीं भूतासु चकितनयनासु नाथोत्र कुत्रचिदस्ति पश्यन्त्विति शनैर्ब्रुवाणासु मध्ये अकस्मान्निकुञ्जान्निःसृतो यदा तदा सव्रीडहासपूर्वको भगवदवलोकनादिजनितो (भावविशेषः समभूत्) नाथे समागते एवं (करिष्यामीतिवत् त्वमेवं) करिष्यसीति वदन् यथोक्तं *ताखाश्लेषादिकं कुर्वतो महत्सुखमनुभूतमिति तत्स्मृत्वाह । अलक्षितश्चासौ कुटीरस्थश्चेति ।*

यद्वा । यदा कदाचित्स्वयं निकुञ्जे तल्पादिकं कुर्वाणासीत् तदा तत्पश्चाद्भागे मिलितां काञ्चन गोपीं प्रत्यङ्गीकृतावधानतया भगवानवदत् । त्वं पुलिनं याहि मया तत्रैवागन्तव्यं नान्यत्र गन्तव्यमिति । एतच्छ्रुत्वान्तःस्थैव अब्रवीन्मया तल्पादिकं विरचितमस्ति यावत्सा सर्वं करोति तावत्कृपां कृत्वात्र भगवानागमिष्यतीति काकुस्वरेणैवोक्तवती तच्छ्रुत्वा तदा चकित इव तत्रागत्य शनैश्चाटुकारान् कुर्वाणस्तत्रैव याहि मन्मनसि न विषादः, कौतुकार्थं परं मयोक्तमिति ब्रुवाणां बलादाश्लेषादिना वशीकृत्य तत्रैव बहुधा रेमे इति पूर्वानुभूतं स्मृत्वाह। न लक्षिता कुटीरस्था येन स तथेति । तेन तदा स्वनिर्बन्धेनैव मदर्थमेव तथा कृतमधुना मन्निर्बन्धेन तथा कुर्विति भावः सूचितः । ननु कृतरमणो बहुस्त्रीवल्लभः प्रियो भवत्याः कदाचिदागमिष्यत्येव तावद्धैर्यं कार्यमिति ब्रुवाणां सखीमाह **राधासर्वस्वसम्पुटः** । यद्वा, अलक्षितं कुटीरं राधाया एव तस्य तथात्वे हेतुमाह **राधे**ति । राधाया यत्सर्वस्वं तस्य सम्पुटः समुदितराधासर्वस्वरूप इत्यर्थः । यद्वा । यथा कृपणः सर्वस्वं यत्किञ्चित्सुवर्णादिकं सम्पुटे धृत्वा प्राणेभ्योप्यन्तरङ्गं कृत्वा सर्वदा रक्षति क्षणमप्यदृष्ट्वा च व्याकुलीभवति, तथा राधाया यत्सर्वस्वं प्राणेन्द्रियान्तःकरणशरीरधनयौवनसौन्दर्यादिकं तत्सर्वं भगवति समर्पितमिति वाक्यार्थः । एतादृशी धीरा कथं भवत्यदृष्ट्वेति भावः । अत एव कुटीरस्यालक्षितत्वकरणमित्यपि । अत्रापि पूर्ववदेव स्वनामग्रहणम् । सम्पुटपदेन राधैव जानाति । तथात्वेन नान्योपीति सूचितम् । यद्वा । राधा सर्वस्वसम्पुटरूपा यस्येत्युक्तार्थवैपरीत्यम् ॥ २६ ॥

एवं स्वरमणमुक्त्वा 'कृत्वा तावन्तमात्मान'मिति प्रकारेण रमणं तदैव कृत्वोपवेशनस्थाने समागत्य सर्वाभिः सहोपविष्टोऽभवत् तत्क्रमेण स्मृत्वाह **वल्लवी**ति ।

वल्लवीवदनाम्भोजमधुमत्तमधुव्रतः ।
निगूढरसविद्गोपीचित्ताह्लादककाननः ॥ २७ ॥

वल्लवीनां यानि वदनाम्भोजानि तत्सम्बन्धीनि यानि मधूनि लावण्यामृतरसान्यधरामृतानि च तैर्मत्तोऽङ्गीकृततदन्यविस्मृतिः एतादृशमधुव्रतो भ्रमर इत्यर्थः । मत्तमधुव्रतत्वोक्त्या तासां सदसि उपविश्य ताभिः सह गानं करोतीति सूचितम् । मत्तस्य तस्य झङ्कारवत्त्वनियमात् । वदनानामम्भोजत्वनिरूपणेन तासां तदेकभोग्यत्वं सूचितम् । यो मध्वेव व्रतयति नान्यत्स तथा । मत्तश्च नान्यं गणयति । भगवति च तत्त्वनिरूपणेन लावण्याधरामृतादेश्च मधुत्वनिरूपणेन भगवतो गोपीभोगैकपरत्वम् । एतद्रसेनैव लक्ष्म्याद्यगणना च सूचिता । अत एव मर्यादातिक्रमोपि एतेनैव । ननु यद्येतादृशी प्रिया भवती तदा भवतीं विहायाधुनान्यत्र कथमस्तीति शङ्का परिहृता । भ्रमरस्यैकत्रास्थितेः । परन्तु मम सर्वदा सरसत्वादागमिष्यत्येवेति महदवलम्बनेन जीवामीति भावः । अन्यत्र स्थितौ हेतुरुक्त एव । शीतलत्वसुरभित्वकोमलत्वातिसरसत्वादीन्यम्भोजपदेन सूचितानि । यद्वा । लोचनचुम्बन-

जनितनीलिमाधरमारात् दृष्ट्वा पूर्वं कदाचित् भ्रमरभ्रमस्तत्रासीद् गोपीमुखाम्भोजमधुमत्तोपि रसाधिक्येन भगवदधरमागत इति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । तादृशो मधुव्रतो यस्मिन्निति । अत्रामोदस्य तदनुगतिजनितसुखातिशयस्य च मधुव्रतत्वं ज्ञेयम् । यद्वा । मधुपदेन साधारणकमलमधूच्यते । तथा च वल्लवीवदनाम्भोजे मधुमत्तमधुव्रता यस्मादित्यर्थः । रतान्ते पद्मिनीनां पद्मगन्धो भवतीति तथा । तन्मत्तमधुव्रतानामप्यत्रागमनेनात्र तेभ्योधिकरसादिमत्त्वं सूचितम् । धर्मान्तरेणापि मधुव्रतत्वमाह **निगूढरसविदिति**। नितरां गूढः गुप्तो यो रसस्तद्विद् ज्ञाता । यथा भ्रमरः कमलनालपत्रादिकं विहाय अन्तर्गुप्तं मकरन्दमेव पिबति जानातीति, तथा भगवानत्रैवं बन्धे कृतेऽयं रसः प्रादुर्भविष्यति, अत्रैवं नखदशनदानेऽयं रसो भविष्यतीति सर्वं जानातीत्यर्थः । तेन महारसभोक्तृत्वदातृत्वे सूचिते । ननु गोकुलेश्वरस्य सर्वभयरहितस्यैवं गुप्ततया रमणे को हेतुस्तत्राह **निगूढे**ति । भावप्रधानोयं, निगूढत्वे यो रसस्तज्ज्ञाता इत्यर्थः । यथा गुप्ततया रमणे रसः, न तथा प्रकटतया रमणे इति इममर्थं जानाति तेन तथा करोतीति भावः । यद्वा । यदा कदाचिद् गोपीवेषं कृत्वा उपरि महता वस्त्रेण मुखकमलमावृत्य तासां मध्ये उपविष्टे भगवति केचन गोपाला भगवानत्रास्तीति पृच्छन्तः समागताः ततश्चात्रान्यः पुरुष एव नास्तीति सर्वाभिरुत्तरं दत्तमिति तत्स्मृत्वाह **निगूढे**ति । नितरां गूढस्ते यथा न जानन्ति तथा गोपीवेशानुभूतरसज्ञाता चेति । एवं रतिकर्तारं निरूप्य तदनन्तरं जातपुष्पावचयक्रीडां स्मृत्वाह **गोपी**ति । गोपीचित्तानामाह्लादकर्तृ काननं वनं यस्येत्यर्थः । तत्र प्रतिवृक्षं कोमलदलप्रसूनलतागृहजलक्रीडाह्रदावरणानि भगवता सहैकान्ते स्थातुं योग्यानि दृष्ट्वा आह्लादविशेष उत्पद्यत इति तथा । यद्वा । निगूढेत्याद्येकं नाम । तदा पूर्वं गोपीविशेषणम् । भगवत्पक्षोक्तार्था अत्राप्यनुसन्धेयाः । यद्वा । गोप्यश्चित्ते यस्य स तथा तस्याह्लादकं काननं यस्येत्यर्थः । एतच्च यदा प्रथममेव भगवद्गोप्योरन्योन्यमासक्तिस्तदा भगवान् क्वेदं रमणं कर्तव्यमिति विचारयन् वृन्दावनं दृष्ट्वा सन्तुष्टो जात इति तत्स्मृत्वोक्तम् । तदुक्तं 'वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृपे'ति । **कलानिधिरिति** पाठे बहुव्रीहिः । कामकलानिधिरिति वार्थः । तस्मिन्निन्दुरिति वार्थः । गोपीचित्ताह्लादे कलानिधिश्चन्द्र इत्यर्थः ॥ २७ ॥

तदनन्तरं स्वयं गोपिकाभिः सह क्रमेण कालिन्दीपुलिनमासमन्तात् दृष्ट्वा वने निकुञ्जेषु क्रीडा कर्तव्या ततोऽत्रागत्य सर्वाभिः सहोपवेष्टव्यं जलक्रीडा च कर्तव्या इति वने क्रीडाकरणेपि तासां नान्योन्यदर्शनादिकं पुलिने तदपि भविष्यतीति विचार्यात्यानन्दितो जातस्तत्स्मृत्वाह **कालिन्दी**ति ।

कालिन्दीपुलिनानन्दी क्रीडाताण्डवपण्डितः ।
आभीरिकानवानङ्गरङ्गभूमिसुधाकरः ॥ २८ ॥

कलिं द्यतीति कलिन्दः, तस्य कन्या कालिन्दी । तेन तासु अन्योन्यं सापत्न्यभावा-

भावः सूचितः । तस्याः यत्पुलिनं तस्मिन् य आनन्दः पूर्वोक्तस्तद्वानित्यर्थः । यद्वा । कालिन्दीपुलिनसम्बन्ध्यानन्दो रासरूपस्तद्वानिति तस्मिन्नानन्दित्वं यस्मादिति भावप्रधानो वा । तदनन्तरमेकस्वरूपेण बह्वीनां प्रत्येकस्वरूपेणापि विलासं कृतवांस्तदाह **क्रीडाताण्डवपण्डितः** । क्रीडारूपं यत्ताण्डवं तस्मिन्पण्डितोऽतिचतुर इत्यर्थः । ताण्डवं हि नियमरहितं नृत्यम् । क्रीडायां तत्त्वनिरूपणेन काञ्चिद्रमयति, अधरतामेव काञ्चित् त्यक्त्वान्यां परिरभ्यान्यां चुम्बति, काञ्चिन्निकटस्थां त्यक्त्वा दूरस्थां गृह्णातीत्यादि सूचितम् । अस्य रसशास्त्रोक्तमपि पण्डितत्वोक्त्यैवमपि तथैव करोति यथोत्तरोत्तरं रसाधिक्यं भवतीति सूचितम् । तदनन्तरं सर्वासु रेमे इत्याह **आभीरिकानवानङ्गरङ्गभूमिसुधाकरः** । आभीरिकारूपा या नवानङ्गस्य नूतनकामस्य रङ्गभूमयः तत्सम्बन्धी सुधाकरश्चन्द्रमाः, यया यया क्रीडया ताः प्रकाशिता आनन्दिता भवन्ति तत्तत्कर्तेत्यर्थः । नवत्वमस्य प्रसिद्धकामाद्भिन्नस्याधिदैविकत्वेन भगवत एव तथात्वेनैतास्वेव प्रकटत्वेन हरदग्धस्यैव चात्रैवोद्भवेन चेति । व्रजानङ्गनवाङ्कुर इति नाम्नि सहेतुनिरूपणं विस्तृतमस्माभिः । अत एव नवानङ्गपदम् । रणभूमिर्विलासभूमिश्च रङ्गभूमिरुच्यते । तेनैतासु रतिकौशलं सूचितम् । यद्वा । नवेति भूमिविशेषणम् । तथा चाभीरिकाणां नवा नूतना या अनङ्गरङ्गभूमय उरःप्रदेशास्तत्सम्बधिनी या सुधेव सुधा कामरस इति यावत् । तस्या आकरः स्थानम् । लौकिकश्चन्द्रो लौकिकसुधाकरत्वेन तथोच्यते । अयं त्वेतत्सुधाकरत्वेन तथेत्यर्थः । करपक्षेपि तथा । नवत्वेन कैशोरयौवनमध्यसमयः सूचितः । तेन पूर्वमचतुरा अपि भगवद्दर्शनमात्रेणैव रसशास्त्रनिपुणा भवन्तीत्युक्तम् । अत एवाभीरिकापदं पूर्वमुक्तम् । अग्रे विदग्धेति वदिष्यति । यद्वा । सामान्यक्रीडामुक्त्वा तल्पादिषु विशेषक्रीडामाह **आभीरिके**ति । तासां नवानङ्गसम्बन्धिन्यो या रङ्गभूमयः पुष्पादिशय्यास्तासु सुधाकरो दर्शनाश्लेषचुम्बनरमणनखादिमयूखैरखिलतापहारीत्यर्थः । एतेनान्धकारशङ्काप्रदीपाद्यपेक्षा च निरस्ता । यद्वा । पूर्वोक्तसुधायां सुधानिमित्तं करो यस्येति गोपीवक्षसि दत्तकरं स्मृत्वोक्तम् ॥ २८ ॥

एवं भगवच्चातुर्ये उच्यमाने तदैव प्रकाशितं स्वचातुर्यं स्मृत्वाह **विदग्धे**ति ।

विदग्धगोपवनिताचित्ताकूतविनोदकृत् ।
नानोपायनपाणिस्वगोपनारीगणावृतः ॥ २९ ॥

विदग्धा अतिचतुराः सर्वांशे या गोपवनितास्तासां चित्ते आकूता मनोरथत्वेन पूर्वं विचारिता ये विनोदास्तत्कृत् तत्कारीत्यर्थः । दिवसे भगवान् रात्रौ यदा मिलिष्यति तदा एवं बन्धादिकं हास्यं च करिष्याम इति विचारितमात्रतत्तत्कर्तृत्वनिरूपणेन भगवांस्तासामर्थे कथनमपि नापेक्षत इति सूचितम् । तेनातिसरसत्वं रमणस्य सूचितम् । विदग्धत्वं भगवतैव न स्वत इति ज्ञापनार्थं गोपसम्बन्धनिरूपणम् । सर्वदा गोचारणरतानाम-

नतिचतुरत्वात् । यद्वा । तादृग्विनोदा भगवत एव । तथा च तादृश्यो वनिताश्चित्ताकूतविनोदकृतो यस्य स तथा । अपूर्वभाव आर्षः । यदा कदाचिद् भगवान् राधामाकार्यान्यव्यासङ्गं कारयित्वा चुम्बनं करिष्यामीति तदा समागतामङ्कमारोप्यापृच्छत् कः समाचार इति । तदा राधा भगवच्चुम्बनमकस्मात् कृत्वा अयं समाचार इत्यवदत् तदा महान् विनोदो जात इति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । अत एव विनोदपदं दत्तम् । पूर्वोक्तार्थे एतद्वैपरीत्यं यदा जातमासीत्तत्स्मृत्वेदमुक्तं ज्ञेयम् । एवमेकान्ते कतिपयगोपीभिः सह रममाणे भगवत्यन्या गोप्यो नाथमेताभिरेव प्रेषिताभिः दूतीभिः पुलिनमागतं ज्ञात्वा विविधवस्तूनि गृहीत्वा तत्राजग्मुस्तत्स्मृत्वाह **नानोपायनपाणिस्थगोपनारीगणावृतः** । यद्वा । सर्वाभिरेव गोपीभिरेवं रमणानन्तरं श्रान्तं चिरं भुक्तं च ज्ञात्वा प्रियं शीघ्रमेव काश्चन गत्वा सर्वां सामग्रीं गृहीत्वा जग्मुस्तत्स्मृत्वाह **नाने**ति । नानाविधानि यान्युपायनानि शिखरिणीपक्वान्नशृतदुग्धादीन्यतिदृश्यानि ताम्बूलचन्दनकस्तूर्यादिसुगन्धद्रव्यवस्त्रमालापुष्पादीनि च । तानि पाणिस्थानि यासामेतादृश्यो या गोप्यस्तासां ये गणाः समूहाः तैरावृत इति तथा । उपायनानां पाणिस्थत्वोक्त्या तासामागमनानन्तरं रमणस्थलं त्यक्त्वा यमुनानिकटेऽतिप्रशस्ते निबिडतरुच्छाये सर्वाभिः सहोपवेशनयोग्यस्थलं अग्रिमलीलार्थमेताभिर्वेष्टितोऽचलत् यदा स समयः सूचितः । गतावेव तथात्वात् । अन्यथा सामग्री तत्रैव धृता स्यात् । ताभिरावृतत्वेन मध्ये लीलागतिः सूच्यते । तदुक्तम् । 'ततश्च कृष्णोपवने जलस्थले'त्यादि पद्येन । भगवदर्थमेता लौकिकवैदिकमर्यादामपि न मन्यन्ते । सर्वं त्यक्त्वा भजन्त्यत एव भगवानपि लोकवेदातीतं फलं ददातीति ज्ञापनाय गोपसम्बन्धनिरूपणम् । सर्वा अप्येवंविधा इति ज्ञापनाय यूथभेदज्ञापनाय वा गणपदम् ॥ २९ ॥

एवं गतिं निरूप्य तत्र गत्वा यत्कृतवांस्तदाह **वाञ्छे**ति ।

वाञ्छाकल्पतरुः कामकलारसशिरोमणिः ।
कन्दर्पकोटिलावण्यः कोटीन्दुललितद्युतिः ॥ ३० ॥

वाञ्छायां कल्पतरुस्तत्रायं भावः । तत्र कालिन्दीमुत्फुल्लकमलां कूजन्मयूरकलहंससारसां मध्ये नलिनीतटस्थविविधप्रसूनै रमणार्थं विरचितस्थलीमिव भान्तीमतिधीरसमीरसेवितां दृष्ट्वा जलक्रीडेच्छाभूत् । तदा भगवान् जलक्रीडयैव श्रमं दूरीकर्तुं तां क्रीडां कृतवांस्तत्र च यथा यथा कामना तासां स्थिता तथैव कृतवानिति । तदुक्तम् । 'ताभिर्युतः श्रममपोहितुमि'ति । वाञ्छापदेन ताभिरनुक्तमपि कृतवानिति सूचितम् । कल्पतरुत्वेन सर्वमनायासेनैव करोतीति कुर्वन्नपि अविकृत एवेति सूचितम् । यथा स देवैकभोग्यस्तथा एतदेकभोग्यत्वं भगवतः सूचितम् । एवं सामान्यतो जलक्रीडामुक्त्वा तत्रैव कृतं रमणं निरूपयति **कामकलारसशिरोमणिः** । कामरूपा या कला तत्सम्बन्धी यो रसस्तस्मिन् शिरोमणिः सर्वश्रेष्ठो न कोप्येवं जानातीत्यर्थः । जले हि रतिः कठिना, तेन लौकिकालौकि-

कानुभावैः करोतीति तथा । कलात्वेन विचित्रत्वं द्योतितम् । कामकलारसानां शिरोमणिभूतस्तादृशरसरूप एव इति वार्थः । उत्कर्षस्य सजातीय एव योग्यत्वात् । तेन सर्वदा पूर्णरसत्वं सूचितम् । यद्वा । स रसः शिरोमणिभूतो येन स तथा । कामरसस्य पूर्वं पातहेतुत्वेन मर्यादायामतितुच्छत्वादधुनैव भगवता ब्रह्मानन्दमोक्षादेरप्यधिककरणात्तथा । एवं जलक्रीडानन्तरं तीरे समागत्याङ्गप्रोञ्छनानन्तरं वस्त्रादिकं परिधाय सर्वाभिः सहभोजनं चकार, तदनन्तरं ताम्बूलं भक्षयन्नुष्णीषकञ्चुकादिकं परिधाय तत्कृतासने उपविष्टः । ततस्तास्तिलकं कृत्वा कपोलतलमारभ्य सर्वाङ्गे चन्दनं लिप्त्वा मालाः परिधाप्य भगवते स्वयमप्यन्योन्यं शृङ्गारतिलकाञ्जनादिकं कृत्वा पुष्पमालाः परिधाय परितो भगवत उपविष्टास्तन्मध्ये गतस्य शोभां स्मृत्वाह **कन्दर्पकोटिलावण्य** इति । कोटीत्युपलक्षणं, असंख्यकन्दर्पेभ्योप्यधिकं लावण्यं यस्येत्यर्थः । तथा चोक्तम् । 'चकास गोपीपरिषद्गतो हरिस्त्रैलोक्यलक्ष्म्यैकपदं वपुर्दधदि'ति । एवं सौन्दर्ये निरूप्यमाणे रासपूर्वकालीनप्राकट्यानन्तरं पुलिने कृतासनोपविष्ट इति शोभां स्मृत्वा यथा तदा तत्रोपविश्य अङ्गसङ्गवाण्यादिभिः पूर्वविरहतापमपाकरोत्तथैवाधुनापि तापमपाकरोत्विति भावेन तत्कालीनामेव शोभामाह **कोटीन्दुललितद्युति**रिति । कोटीति पूर्ववत् । तथा चासंख्येन्दुभ्योपि ललिता मनोहरा द्युतिर्यस्येत्यर्थः । तेन निर्मलत्वान्यप्रभानभिभाव्यत्वसर्वदैकरूपत्वगोपीवदनविकासकत्वादीनि सूचितानि । अत एव भगवदग्रे लीलोपयोगी न लौकिकश्चन्द्र उपयुज्यते । तुच्छप्रभस्योद्दीपनादावप्रयोजकत्वात् । किन्त्वलौकिको भगवन्मनोधिष्ठाता लीलोदयसमानकालोदयो लीलोपरतिसमानकालोपरमो मध्याकाशावधिमात्रगतिरस्त(स)मयरहित इत्येतत्सर्वं 'तदोडुराजे'ति श्लोके निरूपितम् । किञ्च । तासां रात्रीणां तस्या लीलायाश्च नित्यत्वेन का प्रत्याशास्येत्यलं विस्तरेण । द्युतेस्तथात्वनिरूपणेनाङ्गसङ्गं विनापि प्रसरद्भगवत्प्रभासम्बन्धादेव तापापगम इति सूचितम् । यस्य प्रभैवैतादृशी तत्सङ्गे किं वक्तव्यमिति भावः । यद्वा । रासे स्वनिकटस्थभगवत एव दर्शनेनान्यस्वरूपाणां रसार्थं भगवता प्रदर्शितत्वेन च तत्र तत्र प्रभामेवापश्यत् तां स्वनिकटस्थस्यैव भगवतोऽमन्यत् । तेन तत्स्मृत्वाह **कोटी**ति ॥ ३० ॥

एतादृशकरणे कोऽभिप्रायस्तत्राह ।

जगत्त्रयमनोमोहकरो मन्मथमन्मथः ।
गोपसीमन्तिनीश्वद्भावापेक्षापरायणः ॥ ३१ ॥

जगत्त्रयपदेन तत्र स्थिताः स्त्रिय एवोच्यन्ते । ता एव जगति सन्ति । नान्ये येषां नायं मोहः । तेनान्येषामसत्त्वं मन्यन्ती ता एव जगत्पदेनोक्तवती । तथा च । तासां मनसो मोहनं वशीकरणमिति यावत् । तदेव परममुद्देश्यं यस्य स तथा । यथैवैतद्भवति तथैव लीलां करोतीत्यर्थः । तथा चोक्तम् । 'भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवे'दिति । तथा च मोहनमात्रस्योद्देश्यत्वेन तस्य च सम्पन्नत्वेनातः परं मद्वार्तामपि किमर्थं चालयिष्यतीति

भावः । अथ स्त्रियस्तु कामेन स्वभावत एव पुरुषस्य वशे भवन्तीति किमाधिक्यं भगवतीति चेत्तत्राह **मन्मथमन्मथः** । मन्मथस्तु न कस्यापि वशे भवति किन्तु तस्य वशे सर्वे । सोप्यत्र वशे भवतीत्यर्थः । अधिकं किं वक्तव्यमिति भावः । यद्वा । रासपूर्वसामयिकविरहे जडेषु चेतनकार्यं भगवद्गतिज्ञानं मत्वा सर्वत्र प्रश्नकरणं तथैव लीलादिकरणं स्मृत्वाह एतादृक्स्वभाव एव भगवानित्याशयेन जगदिति । **जगत्त्रये**पि यो **मनोमोहो** गोपीनां स एव पर उद्देश्यो यस्य स तथेति । तदनन्तरं क्रमेण प्रादुर्भूतं स्मृत्वा आह **मन्मथमन्मथ** इति । तत्राप्युक्तम् । 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' इति । तत्त्वेन प्रादुर्भावस्यायं भावः । विरहस्योपमर्दित्वेन स्वभावत एवातिकठिनस्य प्रभावेन कामादिभावस्य तिरोहितत्वाद्भगवद्दर्शनमात्रेण न तदुद्भवः । तेन स्वयमेव तद्रूपेण प्रकटः । तथा च तद्रूपे च हृदयारूढे तदुद्भवोवश्यं भवति, तदैव च रसः । अन्यथा रसाभासः स्यात् । अत एव श्रीभागवते 'काचित्कराम्बुजमि'त्यादिना विरहजतापत्यागमुक्त्वापि पुनर्भगवतो वाचः श्रुत्वा विरहजतापं जहुरित्युक्तम् । स च तापे सत्येव सङ्गच्छत इत्यलं विस्तरेण । नन्वेमपि कुतस्तत्राह **गोपे**ति । गोपसीमन्तिन्याः शश्वत् सर्वदा यो भावः कामभावः अपेक्षा च, एते एव परायणे उद्देश्ये यस्येत्यर्थः । तेन तथा करोतीति भावः । यद्वा । तासां यः शश्वद्भावः सर्वदा निकटस्थितिरपेक्षा च इत्यग्रे पूर्ववत् । गोपसीमन्तिनीसम्बन्धिनी या शश्वद्भावस्य निकटस्थितेरपेक्षा तस्याः परायणो विषय इति वार्थः । किञ्च ॥ ३१ ॥

भगवानपि तादृशधर्मवानेव येन क्षणमपि न त्यक्तुं शक्त इत्याह **नवीने**ति ।

नवीनमधुरस्नेहः प्रेयसीप्रेमसञ्चयः ।
गोपीमनोरथाक्रान्तो नाट्यलीलाविशारदः ॥ ३२ ॥

नवीनः सर्वदा नूतनः मधुरश्च स्नेहो यस्येत्यर्थः । नूतनो हि प्रचुरो भवति । भगवदीयस्य च सर्वदैव नूतनत्वेन सदा तथात्वम् । मधुरत्वेनासक्तिहेतुता । नवत्वेनान्यासक्तिविस्मारकत्वमत्यभिलाषा च सूचिता । यद्वा । नवीनेषु नूतनेष्वेव मधुरः स्नेहो यस्येत्यतिदुःखेन ईषत्कुपितैवमवदत् । एवं भगवन्निष्ठं तादृशं धर्मं निरूप्य स्वनिष्ठं निरूपयति **प्रेयसी**ति । प्रेयसीनां भगवतः प्रियाणां गोपीनां प्रेम्णः सञ्चयो यत्र यथा कुतश्चित्प्राप्तं वस्तु एकत्र गुप्ततया स्थाप्यते तथा । पुत्रवित्तगेहदेहादिस्थितस्नेहो भगवति यथा न कोप्यन्यो जानाति तथा समर्पित इत्यर्थः । वस्तुतस्तु सर्वा अपि गोप्यो भगवत्प्राकट्यमत्र ज्ञात्वा सर्वाशां विहाय विगाढभावेन हृदय एव प्रेम्णः सञ्चयमकुर्वन् स एवाधुना प्रकटो भगवानित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते 'चिरात्त्वयि धृतामाशामि'त्युक्तमेताभिरेव । प्रेमसञ्चयरूपभगवत्प्रेयसीत्वनिरूपणेनैतासामपि भगवत्प्रेमसञ्चयरूपत्वं सूचितम् । यद्वा । कदाचिद्भगवान् राधागमिष्यतीति पुष्पचन्दनाञ्जननीवीकस्तूरीविविधभक्ष्यताम्बूलमालादिकं निकुञ्जे संगृह्य प्रतीक्षामकरोत्ततः समागतायां राधायां शृङ्गारं विधाय रेमे इति तत्स्मृत्वाह

प्रेयसीति । प्रेयसीनां प्रेम्णा सञ्चयो यस्य स तथेति । एवं बाह्यमुक्त्वैतत्कालीनमेवान्तरं स्मृत्वाह **गोपी**ति । गोपीविषयको यो मनोरथ एवमेवं करिष्यामीति तेनाक्रान्तो व्याप्तोऽन्यभावरहित इत्यर्थः । यद्वा । ननु यदि भगवान् भक्तगृहे गतो भविष्यति तदा कथं प्राप्तिरित्यत आह । गोपीनामेव मनोरथेनाक्रान्त इति । तेनास्मद्व्यतिरिक्तभावस्य न तत्र प्रवेश इति भावः । एतेनेदं स्वरूपं तासामेवार्थ इति सूचितम् । अत एव श्रीभागवते 'श्रुतिभिर्विमृग्यामि'त्युक्तम् । तदुक्तम् । 'तासामाविरभूदि'ति । 'एवं मदर्थे'त्यादिनापीतीदमुदितं परमभाग्यवतैव विश्वसनीयमित्यलं लिखनेन । यद्वा । यदा पूर्वमेव दर्शनानन्तरं स्वयं भगवदाश्लेषादिमनोरथव्याप्त्या विस्मृतगेहादिरासीत्तत्स्मृत्वाह । गोपीमनोरथाक्रान्ता येन स तथेति । गोपीमनोरथेनाक्रान्ता यस्मिन्निति विपरीतं वा स्मृत्वोक्तम् । एवं मनोरथ उच्यमाने पूर्वं यदा कदाचित्स्वमनोरथं भगवान् स्वनृत्यं दर्शयित्वा पूरितवांस्तत्स्मृत्वाह **नाट्ये**ति । नाट्यलीलायां विशारदः अतिचतुर इत्यर्थः। निरर्थकतत्तथ्थादिशब्दाद् नृत्यमपि सरसमिति ज्ञापनाय लीलात्वनिरूपणम् । यद्वा । नाट्यपदेन शास्त्रीयशुद्धमार्ग उच्यते । लीलापदेन देशीयनृत्यमुच्यते । तेन नाट्ये लीलायां च तथेत्यर्थः । यद्वा । कदाचिद्राधया भगवदग्रे क्रियमाणे नृत्ये प्रतिपदं साधु साध्विति सशिरःकम्पं सानुरागेक्षणं प्रशंसते भगवानतिप्रमोदेनाकार्याश्लेषमपि करोति तत्स्मृत्वोक्तम् । पूर्वोक्ते विशारदोऽतिरसिकज्ञाता इति । तत्र तादृश्यो यस्मादिति वा। भगवान् स्वयं नृत्यं कृत्वा तथा शिक्षयतीति तथा ॥ ३२ ॥

एवं भगवन्नृत्यं सरसं निरूप्य तत्सरसतायां हेतुं वदंस्तत्कालीनमेवार्थं निरूपयति ।

प्रत्यङ्गरभसावेशप्रमदाप्राणवल्लभः ।
रासोल्लासमदोन्मत्तो राधिकारतिलम्पटः ॥ ३३ ॥

नृत्ये प्रतिपदाभिनयप्रदर्शनेच्छाजनित उत्साहविशेषो रभसपदेनोच्यते । तथा च प्रत्यङ्गं रभसावेशो यस्य स तथेत्यर्थः । तेन सर्वत्राभिनये तादृूप्यमेव भवतीति सूचितम् । अत एवातिसरसतेति भावः । तेनेदं देशीयनृत्यं निरूपितं भवति । तेनारम्भे शुद्धमार्गीयं पश्चाद्देशीयं नृत्यमिति परिस्थितिः सूचिता । एवं द्रष्टृत्वेन काश्चिदग्रे उपवेश्य नृत्यं कुर्वन्नतिरसोद्गमे राधया सह नृत्यं चकार तस्मृत्वाह **प्रमदे**ति । प्रकृष्टो मदो यस्याः तस्याः प्राणेभ्योपि वल्लभः प्रिय इत्यर्थः । यथा भगवान् रभसयुक्तस्तथैव राधापीति ज्ञापनाय प्रमदापदम् । उभयोस्तुल्यतायामेव सरसतेति तथा । यद्वा । प्रमदा प्राणवल्लभा यस्य स तथेति । यद्वा। प्रत्यङ्गेत्यादिना रमणसामयिक एव भगवानुच्यते । तदा प्राणपदं बलपरमपि ज्ञेयमिति दिक् । यद्वा । रासपूर्वकालान्तर्धानानन्तरप्राकट्यानन्तरं को वेदाधुनापि कुत्रचिद्भगवानागच्छेत्तदान्वेषणार्थमपि प्राणान् स्थापयिष्याम इति वियोगभीरुतया प्राणेभ्योप्यन्तः स्थापयन्तीति स्मृत्वेदमुक्तम् । स्थापने सामर्थ्यसूचनाय प्रमदेतिपदम् । एवं स्वप्रमदात्वं निरूप्य भगवतोपि तथात्वं निरूपयति **रासोल्लास**-

मदोन्मत्त इति । रासरूपो य उल्लासः उत्साहस्तस्मिन् यो मदस्तेनोन्मत्तस्तदेकरसपूर्त्या उल्लंघितमर्यादो विस्मृतस्वात्मारामत्वब्रह्मत्वपूर्णकामत्वादिरित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते 'यथा मदच्युद्द्विरद' इति दृष्टान्तः । मत्तस्यैव तथात्वात् । यद्वा । रासोल्लासमदोन्मत्ता गोप्यो यस्मादित्यर्थः । तथा चोक्तम् । 'तदङ्गसङ्गप्रमदे'ति श्लोकेन । रासस्येतरविस्मारकत्वैकस्वभावत्वनिरूपणार्थं मदपदम् । नन्वेतादृशस्य भवत्याः स्मरणं कथमित्यत आह **राधिकारतिलम्पटः** । राधाया या रतिः रमणं तस्यां लम्पटस्त्यक्तुमशक्त इत्यर्थः । यद्वा । राधिका रतिलम्पटा यस्मिन्स तथेति । यद्वा । कदाचिद्दिवसे निकुञ्जपुष्पतल्पे चिरं रमणं कृत्वाश्लिष्ट एव शयनं कृतवान् तदा काचित्प्रणयभरामृतजलधिवीचिवर्णावलीभिस्तत्र सुप्तं जानन्ती पश्चाद्भागे स्थित्वा निर्भरराधानिजस्नेहोत्साहवशंवदमानसा गोपी पृच्छतीव रसार्थं जगाद राधिकारतिलम्पटोत्रास्तीति । तदार्धसुप्तोत्थितेदं श्रुत्वा राधा भगवानप्यतिप्रमोदेन वस्त्रग्रहणजनितकङ्कणझणत्कारेण ज्ञापितवती । ततः समागतां गोपीमेकान्ते स्वनामसम्बन्धेन प्रियनामोक्त्या सन्तुष्टा भगवद्रसचिह्नादिनिभृतस्वालिङ्गनेनातिनिर्वृतां प्रत्येकान्तवर्तिमवदत्, तदा महान्रसोनुभूत इति तत्स्मृत्वेदं नामोक्तम् । यद्वा । अन्यत्रावधिं कृत्वा सम्पूर्णां रात्रिं स्वनिकट एव निषेवे । ततः प्रातः स्वकण्ठे भुजं प्रक्षिप्य चुम्बनादिकं कुर्वन्नेव स्खलद्गतिर्घूर्णायमाननयनस्तद्गोपीगृहे समागतस्तदारात्तत्सख्यो भगवन्तं दृष्ट्वा नाथ आयातीत्यब्रुवंस्ततो दर्शनार्त्या मानं कर्तुमशक्तापि रसस्वाभाव्यान्मिथ्यैव वदनं गोपयंस्तूष्णीमतिष्ठत् । तदा भगवन्तमागतमनेकचाटुकारान् कुर्वाणं सपुलकमञ्चलेन स्वरादिकं प्रौढ्या गोपयन्त्यप्यगोप्यतया सर्वांगीणपुलकैरसमशरशरैरिव खिन्नमात्मानं काकुना तदेकदासीत्वं च ज्ञापयन्ती चाब्रवीत् । भगवान् राधिकारतिलम्पटः कुतो मत्समीपमागमिष्यतीति राधिकाप्राणतया स्वस्य तद्रमणेनैव स्वरमणेनैव सन्तुष्टापि नूपुरसिञ्जितै राधिकागमनं जानन्त्यजानन्तीव । तदा राधा तच्चिबुकं धृत्वा मानं कुरु परं सकृन्मुखचन्द्रं दर्शयेति वदन्ती वदनमुन्नतं चकार । इयं च राधां रसेन चिह्नैश्च पूर्णां दृष्ट्वातिप्रमोदेन मानिनीव राधाश्लेषमकरोत् । तदा भगवतोभयोरकेदैवाश्लेषे कृते प्रहस्य तादृशप्रियदर्शनप्रमोदभरवशा नाथमप्यालिङ्गितवती । तदा भगवता तस्यै महान्रसो दत्त इति स्वयमतिसन्तुष्टाभवत् । तत्स्मृत्वेदं नामोक्तमधुनाप्यागच्छेति भावेन ॥ ३३ ॥

एवं स्वरमणोत्तरसमयं स्मृत्वोक्त्वा रमणसमयं स्मृत्वाह खेलेति ।

खेलालीलापरिश्रान्तः स्वेदाङ्कुरचिताननः ।
गोपिकाङ्कालसः श्रीमन्मलयानिलसेवितः ॥ ३४ ॥

खेला क्रीडा तस्यां या लीला बन्धादिरूपा तया परिश्रान्त इत्यर्थः । यद्वा । कदाचिद्भगवान् राधा च रहसि यस्य जयः स एवमेवं चुम्बनबन्धादिकं स्वानुगुणं करिष्यतीति स्वानुरूपं पणबन्धं कृत्वाक्षादिभिः खेलनमकुरुताम् । तत्खेलापदेनोच्यते । ततो भगवतो

राधायाश्च पर्यायेण जयानन्तरं स्वस्वजयानुरूपा या लीला पूर्वोक्तरूपा तत्रोभयामुरूपतत्रतत्करणात् परितः श्रान्तो जात इति तथा । यद्यप्येवं स्वस्यापि श्रमस्तथापि रसाधिक्ये स्त्री पुम्भावमापद्यत इति स्वश्रममन्यमानयोक्तं, तेन विपरीतमपि सूचितम् । यद्वा । तत्र परिश्रान्ताप्यपरिश्रान्ता येन स तथा । तदुक्तम् । 'तासामतिविहारेणे'ति श्लोकेन । 'तत्कररुहस्पर्शप्रमोदा' इति च । 'ताभिर्युतः श्रममपोहितुं श्रान्तो वाऽविशदि'ति च । यद्यपि नायकश्रमो नायकाया नेष्टस्तथापि भगवानेवमप्यतिमोहनः सुखद इत्यभिप्रायेण निरूपितम् । तथा चोक्तम् । 'उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन्नि'ति । यत्र तदपि श्रमे एवं तत्रैतादृशश्रमे किं वक्तव्यमिति भावः । अत्र रसिकेन स्वयमेवानेकेर्था ज्ञेया इत्यलं विस्तरेण । श्रमकार्यमाह **स्वेदाङ्कुरचिताननः** । स्वेदस्य प्रस्वेदस्याङ्कुराः सूक्ष्मजलकणास्तैश्चितं व्याप्तमाननं यस्य स तथा । तस्मिन् समये मुखारविन्दमेव दृष्टिपथमिति प्रथमं तत्रैवं तदुद्भवेन च मुखकमलमेवोक्तम् । तेन मुक्ताफलैरिव तैरतिशोभा सूचिता । अङ्कुरोक्त्या क्षणानन्तरं त एव किञ्चित्पुष्टा भवन्तीति सूचितम् । एतादृशस्य स्पर्शचुम्बनादिहेतुत्वेन विभावकत्वं सूचितं भवति । तादृशान्याननानि गोपीनां यस्मादिति वा । क्रमेण रतान्तसामयिकं नाथं निरूपयति **गोपिकाङ्कालस** इति । गोपिकाया अङ्के अलस इव अलसो निष्पन्दं क्षणमात्रं तत्र स्थित इत्यर्थः । तत्र निसर्गात्सुखमिति न्यायेन तदा सुखातिशयात्तथा । यद्वा । पूर्वनाम्नैव रतान्तमुक्त्वा पश्चाद्बहिरुपवेशनस्थाने समागत्य गोपिकाङ्क एवोपविष्टस्तदुपष्टब्ध एव । तदुक्तम् 'गोपिकाङ्कालस' इति नाम्ना । यद्वा । उरवोङ्कास्ते यथा शिथिलगतयस्तथा भगवानपि तदेत्याह गोपिकाङ्कवत्तथेति । एतेन तास्तान्यथा बलाच्चालयन्ति तथा नाथमपि बलात् स्वक्रोडे समारूढं स्वगृहमेकान्तं नीत्वाभ्यङ्गादिकं कुर्वन्तीति सूचितम् । ततः श्रमापगममाह **श्रीमन्मलयानिलसेवित** इति । श्रीमान् यो मलयसम्बन्ध्यनिलस्तेन सेवित इत्यर्थः । सेवनेन मान्द्यम्, मलयसम्बन्धेन सौरभ्यं, श्रीमत्पदेन शैत्यं च सूचितम् । श्रीः लक्ष्मीः तद्वानित्यर्थः । अस्य कालिन्दीसूक्ष्मकणविभावकत्वादयो धनम् । तेनैव तादृशश्रमेपि तथात्वेनालौकिकसामर्थ्यं सूचितम् । यद्वा । अत्र लक्ष्मीः प्राप्तस्वावसरा रतानन्तरमपि व्यजनाद्यर्थमपि ममोपयोगो भवेदिति तदागत्य वृक्षान्तरा स्थित्वा भयेन लज्जया चात्मानं गोपयन्त्यपश्यत् । तत्रापि स्वानुपयोगं दृष्ट्वा तत्रैव पश्यन्त्येव दक्षिणस्यां दिशि स्थिता । तदा मलयानिलत्वेन तत एव समागच्छंस्तन्मुखामोदविशेषमपि गृहीत्वायाति तदा मध्ये श्रीमान् भवतीत्यत उक्तं **श्रीमदि**ति । अत एव श्रीभागवते 'श्रयत इन्दिरा' इत्युक्तम् । अत एव भगवता गोपिकाङ्कस्थित्या तदुपविष्टंभेन च गोपिकावश्यत्वं श्रियै ज्ञापितमित्यलं विस्तरेण । एतन्नामोक्तिसमानकालमेव भगवान् प्रकटो जात इति ज्ञेयम् । अत एव तदातिशयशोभां भगवतो दृष्ट्वा श्रीमदित्युक्तम् । पूर्वानुसन्धानेन त्वरागमनैकद्वित्रितयश्रमकणानां च सत्त्वेन मलयानिलसेवित इत्युक्तम् । तेन कर्मधारयो ज्ञेयः ॥ ३४ ॥

अत एव फलं जातमिति ज्ञापनार्थमेव फलश्रुतिमाह इत्येवमिति ।

इत्येवं प्राणनाथस्य प्रेमामृतरसायनम् ।
यः पठेच्छ्रावयेद्वापि स प्रेम्णि प्रमिलेद्ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

इतीति समाप्तौ । एवंभूतं पूर्वोक्तरूपं यत्तत्प्रेमरूपो योमृतरसस्तस्यायनं स्थानमित्यर्थः । यद्वा । प्रेमसम्बन्धि अमृतरूपं **रसायनं** महौषधं प्रेमकृतव्यथायां व्यथानिवृत्त्युपायमित्यर्थः । अमृतत्वेनानुभवदशायामपि सुखदं नान्यवद्दुःखदमिति सूचितम् । उक्तावपि हेतुरुक्तोनेन । भगवन्निष्ठं हेतुमाह **प्राणनाथस्येति** । प्राणानां स एव नाथो रक्षकत्वादिसर्वधर्मवान् । तेन प्राणरक्षार्थमेवैतन्निरूपितमिति सूचितम् । यद्वा । एवं पूर्वोक्तं प्राणनाथस्य प्रेमरूपमित्यर्थः । अन्तःस्थितं प्रेमैवैतद्रूपेणैव प्रकटमिति हृदयम् । तद्विशेषणममृतेति । अमृतस्य रसानां योऽयनं स्थानमित्यर्थः । विषयमुक्त्वा विधेयं वदन्नेव फलमाह **यः पठेदिति** । सामान्योक्त्या नात्र वर्णादिनियम इति सूचितम् । वेत्यनादरे । तेन श्रवणं कीर्तनं स्मरणं वा भवतु । किन्त्वैतन्निष्ठत्वमेवापेक्षत इति भावार्थः सूचितः । अपिशब्देन समुच्चयेपि तथात्वं सूचितम् । स प्रेमरूपत्वादस्य प्रेम्णि भगवत्प्रेम्णि प्रकर्षेण मिलेन्मिलति । तद्वान् भवतीत्यर्थः । पुलिङ्गनिर्देशः स्वातन्त्र्यपरः । तेन स्त्रियामपि तथा । प्रकर्षेण प्रेमौत्कर्ष्यं येन क्षणमपि न वियोगं सहते । यथा गोपीनां तथेति । अविनाशिफलं भवतीत्याह **ध्रुवमिति** । क्रियाविशेषणम् । सत्यमिति वा । नात्र सन्देह इति भावः ।

तदेतत्सर्वस्वं निजहृदि निगूढं व्रजवधूप्रसादश्रीभाजि प्रणयिरसिकानामतिमुदे ।
प्रयत्नेन स्वेन प्रकटितमजस्रं मयि तरां व्रजस्त्रीसौभाग्यं झटिति विदधातु प्रियतमम् ॥१॥

यद्यप्यतिगोप्यत्वादनुचितमेतत्प्रकाशनं नूनम् ।
महदौषधमनुपानश्रितमेव तथेति तद्रचितम् ॥ २ ॥

प्रार्थये रसिकाः स्वैरं पश्यन्त्विदमहर्निशम् ।
एतद्रसानभिज्ञस्तु मा द्राक्षीदपि वैष्णवः ॥ ३ ॥

इति वृन्दावनाम्भोधिचन्द्रदास्यार्थिना कृतम् ।
प्रेमामृतौषधस्येदं विठ्ठलेनानुपानकम् ॥ ४ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितं प्रेमामृतविवरणं सम्पूर्णम् ।
श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

परिवृढाष्टकम् ।

श्रीगोपेश्वरकृतविवरणसमेतम् ।

नत्वा श्रीवल्लभश्रीविठ्ठलेशाचार्यकेशवान् ।
यदृच्छातस्त्विमं ग्रन्थं विवृणोमि यथा स्फुटम् ॥ १ ॥

'रसो वै स' इति श्रुतेः सच्चिदानन्दस्य भगवतो रसरूपत्वात्तत्र दुष्टैः स्वकर्मभिर्यदृच्छया वान्यथाभावः स्यात्तन्निवृत्तये भक्तेरावश्यकत्वाज्जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृतः श्रीमदाचार्यास्तदाविर्भावं प्रार्थयन्ति **कलिन्दोद्भूताया** इत्यादि ।

कलिन्दोद्भूतायास्तटमनुचरन्तीं पशुपजां
रहस्येकां दृष्ट्वा नवसुभगवक्षोजयुगलाम् ।
दृढं नीवीग्रन्थिं श्लथयति मृगाक्ष्या हठतरं
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥ १ ॥

श्रीपरिवृढे रतिप्रादुर्भावः सततं भवतु, श्रिया सहितः परिवृढः प्रभुरित्यर्थः, परब्रह्मेति यावत् । तथा च पाणिनिसूत्रं 'प्रभौ परिवृढ' इति । 'बृह बृहि वृद्धौ' । अत्रोक्तस्य वृभावो ढत्वं च हकारलोपश्च निपात्यते, इदितोस्य नलोपश्च । स्वरूपं तु समासौ वक्ष्यन्ति 'रतिपतिपितु'रित्यनेन पदेन । परित उद्युक्त इति योगे, श्रिया परिवृढ इति च । 'वृहू उद्यमने' उद्यमनमर्थालीलार्थं, सामान्यतो लीलामुक्त्वा विशेषतो लीलामेनामेव वा विशेषणेनाहुः, अथवेदानीं स प्रभुः कीदृशो दृष्ट इत्यत आहुः, अथवा कीदृशे रतिप्रादुर्भावः प्रार्थनीय इत्यत आहुः **कलिन्दे**त्यादिना । इयं विविधलीलोपयोगिनी, सा चोत्पत्तिमारभ्यैवेति ज्ञापयितुं कलिन्दोद्भूतपदम् । इयं हि संयोगसामग्री । **तटमनुचरन्ती**मिति । 'लक्षणेत्थम्भूते'त्यनेन कर्मप्रवचनीयत्वमनोः । चरन्तीं गच्छन्तीं विरहमनुभवन्तीं चेत्यर्थः । 'चर गतिभक्षणयोः' । विरहसामग्रीमाहुः **पशुपजा**मिति । पशुपो वृषभानुः । एतेन पशवस्तस्य सन्तीति ज्ञापितम् । पशूनां वारणे[1] विरहो भवतीति तथा । पशुपत्वस्मरणेनैव विरहः । तज्जातां राधामिति विशेष्याध्याहारः । मध्ये विरहसामग्री रसस्य पूर्णत्वं ख्यापयति **नवसुभगवक्षोजयुगला**मिति । किञ्च, नवमागन्तुकं शोभनं परब्रह्मसारूप्यसमानाधिकरणं भगमैश्वर्यादि यस्याः सा नवसुभगा । तदुक्तं यमुनाष्टकटीकाया-

---

१ चारणे इति पाठः ।

'मष्टविधैश्वर्यं भगवता कालिन्द्यै दत्त'मिति । वक्षसि वक्षोनिमित्तं वक्षोरमणनिमित्तं च जायत इति वक्षोजा श्रीः सा युगला युगलनिरूपिका यस्याः सा वक्षोजयुगला । सा चासौ वक्षोजयुगला च नवसुभगवक्षोजयुगला ताम् । 'पुंवत्कर्मधारये'ति पुंवद्भावः । तदुक्तं 'श्रीर्यत्पदाम्बुजे'त्यादि, 'वक्षः श्रियैकरमण'मित्यादि च, 'कमलजासपत्नीति' च । अन्यच्च, नवानां स्नेहेन क्रियमाणानां श्रवणादीनां शोभनं भगं रयिः प्रकाशिका । तदुक्तं यमुनाष्टपद्यां 'कुरु भक्तिराय'मिति । वक्षसो जा जेत्री 'जस्तु जेतरी'त्येकाक्षरी नाममाला । भक्त्या वक्षोजेयस्तत्प्राप्तिरिति 'श्रीर्यत्पदाम्बुजरज' इत्यस्य सुबोधिन्यां स्थितम् । युगलेति च पूर्ववत् । अपरञ्च, नवसुभगवक्षोजयोर्युगस्य भगवत्करयुगस्य लं चलनं यस्याः सा ताम् । तदुक्तं 'राधिकाहृदयगतहृद्यकरकमल' इति । अन्यच्च, न वसु धनं, तच्च गङ्गोपासकानाम् । सैवेति वसुर्गङ्गा भगं मुक्तिर्वक्षोजा लक्ष्मीर्युगला असमत्वेन युगलनिरूपिका यस्याः सा, अद्वितीयेति यावत्, ताम् । तदुक्तं 'यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियंभावुके'ति, 'हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षत' इति च । 'इयं तव कथाधिका सकलगोपिकासङ्गमे'त्यादि च । श्रीपरिवृढसारूप्यस्य श्रवणाद्दर्शनाच्चैवमपि समासाः साधवः । 'सततमतिशयितहरिभावनाजाततत्सारूप्यगदितनिजहृदय' इति श्रीयमुनायाः सारूप्यश्रवणात् आधिदैविकादिभावेन तस्यास्त्रैविध्यात् । अन्यनिश्चये तु नैवं समासाः कर्तव्याः । एवञ्च, आधिदैविकायाः श्रीपरिवृढसारूप्यमाध्यात्मिकायास्तु हरिसारूप्यमाधिभौतिकायास्तु नीलवर्णेन सारूप्यमिति प्रतिभाति । दृढमिति सामान्ये नपुंसकम्, दृढभक्तिरितिवत् । मृगाक्ष्याः श्रीराधायाः । लक्षणं चैतत्तस्याः । हठतरमित्यत्र कलिन्दोद्भूताया इत्यादिविशेषणचतुष्टयं हेतुः, अतस्तरबुक्तः । स्वयं पश्यन्तीति श्लथयतीति वर्तमानार्थकशतुः प्रयोगः । भाषितपुंस्कादितिपुंवद्भावः । वक्षोजौ कुचाविति भाषितपुंस्कत्वम् । रासस्त्रीभावपूरितविग्रहत्वाद्भक्तिवाचकं रतिपदमुक्तम् । रतेर्नित्यत्वात् प्रादुर्भावपदम् । प्रार्थनायां लोट् । इयमावश्यकी । 'भक्त्यभावे तु तीरस्थ' इत्यादिवाक्यात् रत्यतिरिक्तं तु न प्रार्थनीयम् । 'प्रार्थिते वा ततः किं स्या'दित्यादिवाक्यात् ॥१॥

सखीवृन्दे मिथो गुणानुवादे लीलासहितप्रियतमप्राकट्येनान्तर्ये भावविशेषा उत्पद्यन्ते, न ते सङ्गमेऽपीति विरह आन्तरस्य परमफलत्वात् श्लोकद्वयेन प्रार्थयन्ति **समायात** इत्यादि ।

समायाते स्वस्मिन् सुरनिलयसाम्यं गतवति
व्रजे वैशिष्ट्यं यो निजपदगताब्जाङ्कुशयवैः ।
अकार्षीत्तस्मिन् मे यदुकुलसमुद्भासितमणौ
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥ २ ॥
हिहीहीहीङ्कारान् प्रतिपशु वने कुर्वति सदा
नमद्ब्रह्मेशेन्द्रप्रभृतिषु च मौनं धृतवति ।

मृगाक्षीभिः स्वेक्षानवकुवलयैरर्चितपदे
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥ ३ ॥

तस्मिन् यदुकुलसमुद्रासितमणौ यदुकुलसमुद्रेति विशेषणात् पूर्णानन्दे हरौ श्रीगोवर्धनधरे रतिप्रादुर्भावः, तथा असितमणाविति रूपं । कीदृशे स प्रार्थनीय इत्याकाङ्क्षायां विरहसामग्रीके स प्रार्थनीय इत्याशयेन विरहसामग्रीमाहुः **समायात** इत्यादि । स्वस्मिन् समायाते सति व्रजः सुरनिलयसाम्यं गतवान्, न तु वैशिष्ट्यम् । यतः सर्वोप्यक्षरः, व्रजे वैशिष्ट्यं तु करणीयम्, आत्मीयत्वात् । तथा च स्वस्मिन् व्रज इत्यप्यन्वयः, तदाहुः यः स्वस्मिन् व्रजे निजपदगताब्जाङ्कुशयवैर्वैशिष्ट्यमकार्षीदिति । अर्थाद्गोचारणार्थं गमनसमय आगमनसमये च । तथा च यः सुरनिलयसाम्यं गतवति व्रजे स्वस्मिन् समायाते सति निजपदगताब्जाङ्कुशयवैर्वैशिष्ट्यमकार्षीदित्यप्यन्वयः । अत्राब्जाङ्कुशयवानामेव ग्रहणं छन्दोनुरोधेनान्येषामप्युपलक्षकम्, योग्यत्वात् । वैशिष्ट्यं खुरतोदशमनरूपम् । तदुक्तं गोपिकाभिर्युगलगीते 'निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रनीरजाङ्कुशविचित्रललामैः । व्रजभुवः शमयन् खुरतोद'मिति । अकार्षीदिति भूतप्रयोगो लीलानां नित्यत्वेपि श्रीमदाचार्यान् प्रति तदानीमप्राकट्यात् । एतच्च नित्यलीलावादे विद्वन्मण्डने स्पष्टम् । सोपि श्रीपरिवृढ एवेत्याशयेनाहुः **श्रीपरिवृढ** इति । अत्र पूर्वोक्तेनाभेदः । तदुक्तं तृतीयाध्यायतृतीयपादे 'समान एवं चाभेदा'दिति सूत्रभाष्ये । अत एव 'प्रभौ परिवृढ' इति निपातोऽपि सङ्गच्छते । अन्यत् पूर्ववत् । **हिहीहीहीङ्कारा**निति । अत्राद्यो ह्रस्वेकारान्तः, ततो द्वौ दीर्घेकारान्तौ, तुरीयस्त्वनुस्वारान्तदीर्घेकारान्तः, हीमो निर्देशो हींकारः, 'वर्णात्कार'इति कारनिर्देश इत्येव । हिश्च हीश्च हीश्च हीङ्कारश्च हिहीहीहीङ्कारास्तान्, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसंबध्यत इति यथासंभवं हिहीहीहीङ्कारादयोपि बोध्याः । पशुं पशुं प्रतीति **प्रतिपशु** । 'अव्ययं विभक्ती'त्यादिनाव्ययीभावः समासः । सदा दक्षिणबाहुं कटौ संस्थाप्य वामबाहुमुच्चैः कृत्वा कुर्वति, किञ्च, सदा कुर्वति, न कदाचिदपि प्रतिपशु तूष्णीं स्थितवति । अयमेव भगवान्न तु गोपाल एव तदाहुः **नम**दित्यादि । यः पूर्वं भागवतादौ **नमद्ब्रह्मेशेन्द्रप्रभृतिषु** मौनं धृतवान्, स एवेदानीं हिहीहीहीङ्कारान् प्रतिपशु वने कुर्वंस्तान् ज्ञानगोचरीभवति तस्मिन्नित्यर्थः । कुर्वतीति वर्तमानार्थकशतुः प्रयोगात् । चकारोनुक्तसमुच्चयार्थः । **मृगाक्षीभि**स्तद्वनस्थाभिः **स्वेक्षा**रूपैः **नवकुवलयैरर्चि**ते पदे यस्य तस्मिन् । तासामीक्षाविषयतया भगवत्पदयोः स्थितिः । अत ईक्षाभिरर्चनं, कज्जलादीनां नीलत्वादीक्षणानां कुवलयत्वं, कुवलयं नीलमम्बुजन्म, कौ पृथिव्यां वलयमिव, शोभाकरत्वात् । तदानीं भगवद्दर्शनेन ये कामशबलिता विविधा भावविशेषास्तेऽत्र नवशब्देनोच्यन्ते ईक्षासु । कुवलयेषु तु रसोद्दीपकत्वं नवत्वम् । स्वेक्षाश्च वलयतोऽप्यधिकाः, यतो वलयान्यपि कुत्सितानि यानि झणत्कारयुक्तानि विशेषोद्दीपकानि तानि कुत्सितानि जातानीति ज्ञायते । ताश्च भक्ताः । अतः पदे एवार्चन्तिस्म, स्वरूपं तु ददृशुरेव । कुललज्जादिभिः अन्यसर्वप्रतिबन्धे स्वेक्षानवकुवलयैरेवार्चितवत्य

इत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् । अत्र **रतिप्रादुर्भाव** इत्यादिपुनःकथनं भक्त्यादरे वीप्सारूपं च । **श्रीपरिवृढ** इति निपातप्रकारस्तु पूर्वश्लोक एव उपपादितः ॥ २,३ ॥

माहात्म्यं वदन्तः प्रसङ्गेन तनुस्वरूपे विभौ तं प्रार्थयन्ति **सकृदि**त्यादि ।

सकृत्स्मृत्वा कुम्भी यमिह परमं लोकमगम-
च्चिरं ध्यात्वा धाता समधिगतवान् यं न तपसा ।
विभौ तस्मिन् मह्यं सजलजलदालीनिभतनौ
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥ ४ ॥

तस्मिन् विभौ रतिप्रादुर्भावस्तथा । अत एवात्रैव विभाविति सप्तम्यन्तोपादानम् । विभुः प्रभुस्तेन 'प्रभौ परिवृढ' इति निपातोपि सङ्गच्छते । योगस्तु विशेषेण भगवत्याविर्भवतीति, 'तत्राखिलामरमयो हरिराविरासी' दित्यष्टमस्कन्धवाक्यात् । (अत एवात्रैव विभाविति सप्तम्यन्तोपादानम् ।) स्वरूपं वदन्तः स्वयं रासलीलैकतात्पर्याः रासस्त्रीभावपूरितविग्रहाश्चेति रासलीलावैशिमष्ट्यमप्याहुः **सजलजलदालीनिभतना**विति । सजलो यो जलदस्तस्य या आली पङ्क्तिस्तन्निभा तनुस्तत्र रतिप्रादुर्भावप्रार्थना प्रथमश्लोक एवोक्ता । प्रेम्णायं वाक्यप्रबन्धः, माहात्म्यज्ञानेन तज्जननात् । किञ्च, सजलपदेन भगवतोऽन्तःश्रमो बोधितः, रासे त्वरितागमनेन च श्रमसंभवात्, तद्वन्मदर्थेपि रत्याविर्भावार्थमपि श्रमः संभावित इति सूचितम् । जलदपदेन च रासस्त्रीभ्यो यथा तथा गजेन्द्राय जीवनप्रदत्वम् । जलं जीवनमिति, तथा विरहिणे मह्यं जीवनप्रद इति ज्ञाप्यते । आलीपदेन च रासे यथा मेघचक्रं तथेश्वरपङ्क्तिः सस्त्रीकेति ज्ञाप्यते । गजेन्द्रप्रसङ्गे '(शेषं च) मत्कलां सूक्ष्मां श्रियं देवीं मदाश्रयामि'ति वाक्येनेश्वरस्य सस्त्रीकत्वात् 'वक्षः श्रियैकरमण'मितिवाक्याद्यावद्रूपं श्रियो रमन्ते व्रजभक्तेभ्यः परमलोकगमनानन्तरमपि गजेन्द्राय च बहुवारं जीवनप्रदत्वमालीपदेन बोध्यते, मह्यमपि सततमित्यालीपदेन सूच्यते । एतदर्थमेव दृष्टान्तः । आलीपदं स्वेषां रासलीलैकतात्पर्यत्वात् रासस्त्रीभावपूरितविग्रहत्वाच्च रासलीलावैशिष्ट्यमित्युक्तम् । अथवा गजेन्द्रं परिमुच्य वियति गच्छन् सजलजलदाली भवतीत्यालीपदम् । अथवा सरसि प्रतिबिम्बितस्य तरङ्गोपाधितः प्रतिबिम्बानि बहूनि भवन्तीत्यालीपदम् । अथवा श्रियो हारे भगवत्प्रतिबिम्बपङ्क्तिरिति तथा, अन्यथा तु सजलजलदनिभतनुरित्येतावतैव चारितार्थ्यं भवति । आलिः पङ्क्तौ दीर्घान्तोपि अस्मादेव ग्रन्थात् । यथा श्रीभागवते 'कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाम्बुद आतपत्र'मित्यत्रावलीशब्दो दीर्घान्तोपि, तथायमपि क्वचिद्द्रष्टव्यः । व्युत्पत्तिस्तु आ ईषल्लीयते श्लेषं करोतीत्याली पङ्क्तिः । 'लीङ् श्लेषणे' क्विप्, नतु 'अलभूषणादा'वाङ्पूर्वं इन्नन्तः । अत एव शृङ्गाररसमण्डने द्वितीय उल्लासे पुष्पालीति प्रयोगः । अथवा सजलजलदालेरीः श्रीस्तन्निभा तनुः । नितरां भातीति निभा । वक्ष्यन्ति चाग्रे 'हरिर्यस्तस्मि'न्निति । हरिश्चन्द्रः, तनुरित्यैश्वर्यविस्तारिकैकाऽन्यासामुपलक्षिका । जात्यपेक्षयैकवचनं वान्वयानुरोधेन । अथवा

सजलजलदश्चाली सखी च सजलजलदाल्यौ । 'धर्मादिष्वनियम' इति सूत्रेणाली-शब्दस्य पूर्वप्रयोगार्हस्य परप्रयोगः । तयोः निभा सजलजलदालीनिभा । सा चासौ तनुश्च सजलजलदालीनिभतनुः, सश्रीका उक्तवाक्यात् । पूर्वश्लोकोक्ताग्रे वक्ष्यमाणा च प्रिय-व्रजस्थितित्वात् पुष्टिलीलाकर्तृत्वात् रहःप्रियत्वाच्च सिद्धा, इयं तु लीला वैकुण्ठस्था भक्तियोगादिना निरूपिता चतुर्भुजरासरूपा, गजेन्द्रं परिमुच्य वियति गच्छतोपि लीला दूरतो विरहेण परमफलत्वात् पूर्वार्धोक्तया लीलया माहात्म्यज्ञानजननाच्चात्यादरेणाहुः **मह्यमि**ति । तत्र मामनुकूलयितुं रतिप्रादुर्भावो भवत्वित्यर्थः । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन' इति सूत्रेण चतुर्थी । कीदृशे स प्रार्थनीय इत्याकाङ्क्षायामाहुः **सकृ**दिति । यं विभुं 'तनुरूपं चक्रायुधं' इति वाक्याच्चतुर्भुजं सकृदेकवारं स्मृत्वा । गजेन्द्रः पशुः, अतः कथं भगवतः स्मरणमित्याकाङ्क्षायामाहुः **कुम्भी**ति । कुंभौ मङ्गलसूचकौ, न तु रिक्तौ, तौ विद्येते यस्य सः, तस्मान्मङ्गलं भगवदनुग्रहरूपं पूर्वजन्मकृतहर्यर्चनानुभावरूपं च, तच्च द्विगुणम्, अग्रे भगवद्दर्शनस्यापि भावित्वात् । कुम्भो हि वारिपूर्णो येन केन प्रसिद्ध-सम्बन्धेन मङ्गलरूपो भवति । अतः स्मृतिरहितस्यापि गजेन्द्रस्य स्मरणं भवति । तया च भगवद्दर्शनम् । भगवत्सेवोपयोगिदेहेन परमलोकगमनं तु भगवत्स्पृष्टगजेन्द्रस्योत्क्षिप्तसा-म्बुजकरत्वेन सेवकत्वात् पूर्वजन्मनीन्द्रद्युम्नोयं सेवापरस्तेन पूर्वजन्मनि कृता या सेवा सा द्वितीये जन्मनि फलिता, तेन हेतुना पूर्वजन्मनि किञ्चित्कालं सेवाप्रतिबन्धोऽपि जात इति ज्ञायते । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावलीटीकाया'मनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धे कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलिष्यतीति ज्ञेयमि'ति । एवं च कुंभी सकृत्स्मृत्वा भगवन्तं दृष्ट्वा अम्बुजेन सेवित्वा पूर्वजन्मकृतहर्यर्चनानुभावेन वा परमं लोकमगमदिति योजना । वस्तुतस्तु प्रमेयबलेनैव सर्वम्, अनवतारदशायामेव ज्ञानभक्तीनां प्रयोजकत्वात् । एतच्च स्थितमाकरे । किञ्च, यं विभुं ध्यात्वा भक्तिं कुतो वा न कृतवानित्यत आहुः **धाते**ति । यतो धातानशनादिव्रतधारको, न त्वनुग्रहवान्, अनुग्रहेण भक्तिरिति भक्तिहेतौ स्थितम् । **तपसा** न समधिगतवान् किन्तु दृष्टवान्, वन्दितवाँश्च । अत्रापि हेतुर्धातेति । 'पोषणं तदनुग्रह' इति वाक्याद्भगवदनुग्रहवान् । एतच्च द्वितीयस्कन्धे नवमाध्याये स्पष्टम् । वन्दनरूपभक्त्या तत्काले तत्र भगवदनुग्रहोनुमितः । 'इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीं भगवाना-त्ममायया । पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशु'रितिवाक्यादेवंभवने समर्थत्वा-च्छ्रीपरिवृढसमानाधिकरणमप्याहुः **श्रीपरिवृढ** इति । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति श्रीकृष्णे भगवत्त्वातिदेशाच्छ्रीकृष्णरूपात्पूर्वं चतुर्भुजरूपादत्र सच्चिदानन्दस्य ज्ञानशून्यानु-ग्राहकस्य सर्वे धर्मा उपसंहर्तव्याः । 'बभूव प्राकृतः शिशु'रित्यत्र प्राकृतरूपेणैव ग्राह्यः शिशुः, 'प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्व' इत्यत्र प्रकृतिपदस्य स्वरूपपरत्वादिति स्थितं टिप्पण्याम् । तदा तु चतुर्भुजरूपस्य स्वरूपभिन्नत्वबोधनान्नोपसंहर्तव्या अपि साधना-ध्यायतृतीयपादस्थोपसंहारसूत्रीयभाष्येणेदं सिध्यति ॥ ४ ॥

मनोमयलीलां क्रियात्मकस्य च तां वदन्तस्तं प्रार्थयन्ति **पराकाष्ठेत्यादि** ।

पराकाष्ठा प्रेम्णः पशुपतरुणीनां क्षितिभुजां
सुहृत्सानां त्रासास्पदमखिलभाग्यं यदुपतेः ।
विभुर्यस्तस्मिन् मे दरविकचजम्बालजमुखे
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥ ५ ॥

तस्मिन् दरविकचजम्बालजमुखे रतिप्रादुर्भावस्तथा भवतु । कमलमुखत्वं सकलसाधारणमुभयोरन्वयार्थत्वं श्लोकस्य स्फोरयन्ति । किञ्च, दरविकचे ईषद्विगतबन्धे ईषत्प्रफुल्लिते जम्बालजे कमले नेत्ररूपे मुखे यस्य मनोमयस्य भगवतः सः 'मनोमयोऽयं सखि पद्मलोचन' इति विज्ञप्तौ तथा कथनात् दरविकचपद्मलोचन इत्यर्थः । तथा दरविकचं ईषद्गतबन्धमीषत्प्रफुल्लितं यज्जम्बालजं तत्सदृशं मुखं यस्येति साधारणसमासः । क्षितिभुजामित्यादिविशेषणबलात् क्रियात्मकस्येति लभ्यते । यत्पदेनेषत्प्रफुल्लितकमलमुख इत्यनुक्त्वा दरविकचेत्याद्युक्तं तेनात्रान्यावपि समासौ । तथाहि । दर ईषत्ताहग्विरुद्धाः कुटिलाः केशा यस्य स दरविकचः । जमतीति जम्, क्विपः सर्वापहारी लोपः, अत्तेत्यर्थः । जम् चासौ बालश्च जम्बालो नवनीतमदन् बालस्तज्जानि मुखान्युपाया गमनविशेषादयश्च यस्य सः । 'मुखं निःसरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपी'ति विश्वः । उपाया अनेकविधास्तद्धारणाय बालजत्वं मुखेषूक्तम् । एवं च दरविकचश्चासौ जम्बालश्च दरविकचजंबालस्तस्माज्जायन्त इति दरविकचजंबालजानि तानि मुखानि यस्य मनोमयस्येति समासः । अत्राद्य उपायो बालस्वरूपे निविशते, अन्ये तु 'पराकाष्ठा प्रेम्ण'त्यत्र हेतव इति तत्रैव स्फुटिष्यति । मुखेषु बालजत्वोक्तितात्पर्यं च । दरः शङ्खः विकचत्वं विगतकचलक्षणं स च स च तौ दरविकचौ जम्बालजे करकमले मुखे वक्त्रे च यस्य गोकुलाधीशस्य क्रियात्मकस्य स जंबालः पङ्कस्तज्जत्वोक्त्या यथा पद्मे कदाचित्किञ्चित्पङ्कस्तथा नेत्रयोः कज्जलं मुखे च, हस्तयोस्तु कुङ्कुमादिरिति सूच्यते । कीदृशे स प्रार्थनीय इत्याकाङ्क्षायामाहुः **पराकाष्ठेति** । यः पशुपतरुणीनां प्रेम्णः पराकाष्ठा उत्तमा दशा, सा च बाल्यावस्था । इदमेवावस्थाया उत्तमत्वं यद्भक्तानुरोधित्वम्, अन्यथा पौगण्डादयोप्यवस्थाः 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकस' इति न्यायेन प्राप्नुयुः । अत्र पराकाष्ठा य इत्युक्तेः स्वरूपापेक्षयावस्थाधर्मबाहुल्यं प्रतिपाद्यते, तथैव सकलव्रजरत्नानां मनोरथपूर्तेः । तथाहि । पशुपानां यास्तरुण्यस्ता बहुदुग्धादिकाननपशुप्रेक्षकाणां तत्रापि तरुण्यो दुग्धादिसम्पादनसमर्थाः, कामभावेन भगवति स्निग्धाः, न तु वृद्धा बाला वा । तासां प्रेम्ण इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । प्रेम ज्ञात्वा । प्रेम्ण इति षष्ठी वा, प्रेमसम्बन्धिनी पराकाष्ठा । अत्र 'ज्ञाताऽप्यन्यो न वर्तेत' इत्यन्तः सर्वोपि गुप्तरसोऽनुसन्धेयः । यद्यपि 'त्वं भुङ्क्ष्वाशु सरामो वयस्यवृन्दैः सहागत्ये'ति सरामत्वं वयस्यवृन्दैः सहागमनप्रार्थनाविषयत्वं च श्रीकृष्णावतारधर्मावुक्तौ, तथापि श्रीकृष्णावतारे परब्रह्मति-

देशस्य भाष्यादावुपपादितत्वात्तस्य बाल्यावस्थाद्याचरणोक्त्या परब्रह्मण्यपि तदाद्याचरणं निश्चीयते । तच्च मनोमयरूपेण । 'इति प्रियतमावृन्दमुखपद्मवचोमधु । रसायनमिवापीय तथैव प्रभुराचर'दितिवाक्ये रसायनपानानन्तरं मनसैव तथाचरणावधारणस्य युक्तत्वात् । किञ्च, काष्ठा दिक् तद्वन्निराकारः, परं सा परा मनोगोचरः, दिक्तु नैवं । इदमेवोत्तमत्वमत्र । यत्तु साकारब्रह्मवादैकस्थापक इति श्रीमदाचार्यनाम तत्सार्वदिकस्वरूपाभिप्रायेण । एवंरूपं तु कादाचित्कमेव भक्तस्यापि प्रभुज्ञापितमेवेति ज्ञेयम् । कार्यकारणात्मकत्वेन क्रियाद्वैविध्यात् विशेषणद्वयेन क्रियात्मकस्य भगवतो लीलामाहुः **क्षिती**त्यादि । 'क्षि निवासगत्योः' 'क्तिच्-क्तौ च संज्ञायाम्'इति क्तिच् । तथा चायमर्थः । पूर्वमेव निवासवती भूः, न तु क्षेत्ररूपा । तस्या भुजो, न तु पालकाः । अत एव सुदृप्ताः । भगवान् स्वार्थमेव सर्वं करोति, नत्व-स्मदर्थम् । ततश्चान्यार्थेऽस्माभिः खेदः कथं प्राप्तव्य इति दृप्ताः । प्रकारान्तरेण येषां दृप्तत्वं न गच्छति ते सुदृप्ताः, तेषां त्रासास्पदं त्राससम्बन्धि कृत्यम् । 'आस्पदं तु पदे कृत्य' इति विश्वात् । तच्च कार्यं 'कृत्यं विद्विष्टकार्ययो'रिति विश्वात् तत्र विद्विषि 'कृती छेदने' इत्यस्मात् 'ऋहलोर्ण्यत्' कर्मणि कार्ये वाच्ये तु कृञः कर्मणि क्यप् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' क्रियते इति कार्यं कृत्यं कृतिकर्म। तदपि द्रव्याद्यात्मकं भवति । परन्तु त्रासास्पदं क्रियात्मको भगवानग्रेतनविशेषणबलात् । अतः कृतिकर्मापि क्रियात्मकं ग्राह्यम् । एवञ्च कार्यात्मकक्रियात्मको भगवानास्पदपदार्थः । सुट् तु छान्दसः कृत्ये वाच्ये । अथवा धातुपाठे श्रुतस्य श्रवणार्थकस्य स्पदेर्भ्वादेराकृतिगणत्वाद्भ्वादित्वं प्रकल्प्याङि रूपं । पचादेराकृति-गणत्वात् 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच' इति सूत्रेणाच् । अथवा त्रासानामास्पदं स्थानं, तदपि क्रियाकलापात्मकं, क्रियाभिस्त्रासः सुदृप्तानामिति । एवं कार्यात्मकक्रियात्मकत्व-मुक्त्वा कृत्यपदार्थनिविष्टकृतिस्वरूपोपि भगवानित्याहुः **अखिलभाग्य**मित्यादि । यदुपतेः शूरसेनस्याखिलभाग्यं 'भाग्यं शुभात्मकविधौ स्याच्छुभाशुभकर्मणी'ति विश्वात् । भज्यते 'भज सेवायां' 'ऋहलोर्ण्यत्' 'चजो'रिति कुत्वं यागात् स्वर्गो भवतीत्यादौ भक्तेरुत्पत्त्यर्थकत्व-दर्शनेन धातोरनेकार्थत्वाच्चाखिला शुभात्मिका क्रिया । तदुक्तं दशमस्कन्धे 'मातामहं तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृप'मिति । अत्र क्रियया सर्वं संपादितम् । 'आह चास्मान् महाराज प्रजाश्चा-ज्ञप्तुमर्हसि । ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने' इत्यस्याभासे । अतो विश्वासार्थं कृत्यधिकं वाक्यमप्युक्तवानित्याहेत्यत्र कृत्यधिकमित्युक्तत्वात्सा चात्र परिवृढः परिस्पन्दः । धातुना गृहीत-कर्मत्वेनाकर्मकत्वात्वृञो भावे शः 'रिङ्शयलिङ्क्ष्वि'ति रिङ् अचिन्श्वि'तीयङ् । क्रियते श्रीप-रिवृढः परिस्पन्द्यते इति क्रिया भगवत्त्वादलौकिकी । बहुषु स्थलेषु तु यस्य क्रिया तस्याकारः कायपरिस्पन्दः, क्रियालौकिकी । अखिलपदेन न तेन तदीयैर्वा किञ्चित्कृतम् । एवं मनोमयस्य क्रियात्मकस्य च भगवतो लीले उक्ते । स उभयोपि विभुरेवंभवने समर्थ इति वक्ष्यमाण-श्रीपरिवृढदरविकचजंबालजमुखयोः सामानाधिकरण्ये हेतुः । 'प्रभौ परिवृढ'इति निपातात् ।

अन्यत्समानम् । अत्रान्येषां धर्माणामुपसंहारः पूर्वोक्तरीत्या, अत्रोभौ परिवृढावित्युक्तप्रायम् । तथाचोद्देश्यविधेयभावाद्भेदाभेदौ भवतः, प्रतीत्या भेदः श्रीपरिवृढत्वोक्त्याऽभेद इति । तथाप्याधिदैविकत्वमेव सर्वेषां, नत्वाध्यात्मिकत्वमपि, श्रीपरिवृढत्वोक्तेः ॥ ५ ॥

प्राणलीलां रासस्त्रीभावपूरितविग्रहत्वाद्रासलीलैकतात्पर्यत्वाच्च युग्मेनाहुः **दरप्रादु-रिति** ।

दरप्रादुर्भूतद्विजगणमहःपूरितवने
चरन् कुह्वां राकारुचिरतरशोभाधिकरुचि ।
हरिर्यस्तस्मिन् स्त्रीगणपरिवृतो नृत्यति सदा
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥ ६ ॥

स्फुरद्गुञ्जापुञ्जाकलितनिजपादाब्जविलुठत्-
स्रजि श्यामाकामास्पदपदयुगे मेचकरुचि ।
वराङ्गे शृङ्गारं दधति शिखिनां पिच्छपटलै
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥ ७ ॥

युग्मत्वात्तस्मिन् मेचकरुचि रतिप्रादुर्भावस्तथेत्युत्तरस्थेनान्वयः । कीदृशः सः यत्र स तथेत्याकाङ्क्षायामाहुर्दरेत्यादि । दरप्रादुर्भूतो यो द्विजगण उडुगणस्तस्य महस्तेजस्तेन महसा पूरितं यद्वनं वृन्दावनादि तस्मिन् कुह्वाममायां चरन् गच्छन् वक्ष्यमाणश्यामाविरहमनुभवंश्च । कीदृश्यां राकायां पूर्णनिशाकरायां रुचिरतरा या शोभा विशेषणेन तथावसायात् । 'त्रिभङ्गललितपदयुगं श्यामाकामास्पदं भवति'इति । तस्या अधिका रुग्यस्याम् । तत्र हेतुमाहुः **हरिरिति** । चन्द्र इत्यर्थः । 'हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिष्वि'ति विश्वात् । 'प्राणन्नेव प्राणो भवती'ति श्रुतेर्विरहजाग्नितप्तेभ्यः प्राणान् प्रयच्छन् विरहतापं हरतीति हरिपदम् । तथापि 'कोटीन्दुजगदानन्दी'ति भगवतो नाम्नो राकारुचिरतरशोभातोधिका रुक् यस्य एतादृशो यः स्त्रीगणपरिवृतः सन् सदा नृत्यति, नैकाकी नृत्यतीति सदापदेन ज्ञायते । एकाकी तु त्रिभङ्गललितस्तत्स्तोत्रे प्रसिद्धः । यद्यपि 'एतत्संदर्शने तु स्यात् प्रमदाभाव एव हि । तत्तापशामकोप्येष कृष्ण एवास्ति नापर' इति कृष्ण एव तत्र त्रिभङ्गललितः । तदुक्तं 'प्रहसितं प्रिये'त्यत्र विहरणपदव्याख्यानसुबोधिन्यां 'विहरणं यच्चलन'मित्यारभ्य 'त्रिभङ्गललितादिकं भवती'त्यन्तेन । तथात्रापि तदेवानुकूलम् । 'श्यामाकामास्पदपदयुग' इति वक्ष्यमाणविशेषणेन तथावसायात् । त्रिभङ्गललिते पदयुगं श्यामाकामास्पदं भवतीति । अथवा, सदा हरिः गोकुलस्य चन्द्रमाः, इदानीं वृन्दावनादेश्चन्द्रमाः । प्राणलीलैषा । श्रीकृष्णरासस्य राकायां वृन्दावनादौ जातत्वात् । 'प्राणन्नेव प्राणो भवती'ति श्रुतेश्च । तस्मादिदं मण्डलमपि भिन्नं, न भागवतोक्तम् । तदुक्तं 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरे चाङ्गना । इत्थमाकल्पितैर्मण्डलै-

र्मण्डितः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः' इति । त्रिभङ्गललितत्वाद्रासमध्ये वेणुनादोपि संभावितः । 'मन्ये गोकुलतरुणीनवनवभावाः स्वरासमंजाताः । रतिरससुधाब्धिपतितप्लवे प्लवन्ते-निसर्गमधुरतराः ।' 'तत्रापि चेत् सहायोभूदुदारो वेणुनिःस्वनः । त्रिभङ्गश्च त्रिजगति न जाने का दशा भवे'दिति त्रिभङ्गललितस्तोत्रवाक्याभ्याम् । तदुक्तं 'प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः' इत्यस्य सुबोधिन्यां, 'यत्पुनः कैश्चि'दित्यारभ्य 'मध्ये वेणुनादस्योक्तत्वा'दित्यन्तेन ग्रन्थेन । 'एवञ्च षोडशगोपिकानामष्ट कृष्णा भवन्ति' तद्भागवतोक्तम्, यत्र तु षोडशगोपिकानां षोडश कृष्णा भवन्ति तदन्यन्मण्डलम्, एवमत्रापि षोडशगोपिकानां षोडश प्राणा भवन्ति । यत्र गोपिकानां हस्तद्वयग्रन्थिस्तत्र भगवतः कण्ठः । अयमपि श्रीपरिवृढ इत्याशयेनाहुः **श्रीपरिवृढ** इति । अत्र श्रीपरिवृढैतल्लीलाकर्त्रीः सामानाधिकरण्ये हेतुर्नोक्तस्तथापि हरिरित्येव हेतुरूह्यः । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति वाक्यात् । अन्यत्समानम् । अत्र तद्धर्माणामुपसंहारः पूर्वश्लोकोक्तरीत्योपपादनीयः । नृत्यशृङ्गारं प्रत्याहारन्यायेनाहुः **स्फुर**दित्यादि । स्फुरन् दिव्यो यो गुञ्जापुञ्जो मालाकारस्तेनाकलिते शब्दिते ये निजपादाब्जे तयोर्विशेषेण लुठन्ती स्रग्यस्य स तथोक्तस्तस्मिन् । अत्र निजपदेन भक्तपादाब्जव्युदासः, अब्जपदेन च त्रिभङ्गललितस्तोत्रोक्तरीत्या प्रकटपादतलत्वं रासे परिश्रान्तस्यावस्थाने भवतीत्युच्यते । पादाब्जप्रसङ्गादाहुः **श्यामे**त्यादि । श्यामा व्रजभक्तरूपा तस्याः कामास्पदं कामस्य स्थानं पदयुगं यस्य स तथोक्तस्तस्मिन् । तदुक्तं त्रिभङ्गललितस्तोत्रे 'दक्षिणपदतलपद्मं वामप्रपदस्य वामतः प्रकटम् । सौन्दर्यं किमपितरां प्रकटयति प्रेमवाल्लभ्य'मिति, श्रीभागवते च 'प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि । चरणपङ्कजं शंतमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्' इति, पादाग्रं प्रपदं प्रेमवल्लभ्यं प्रेमवता लभ्यम् । अनेन विशेषणेनैका तु श्यामा स्वामिनीव निकटे तिष्ठतीति ज्ञाप्यते । प्रसङ्गादेव पादाब्जयो रूपं वदन्तो विशेषणस्वरूपमेव विशेष्यभूतमाहुः **मेचकरुची**ति । मेचका श्यामा रुक्कान्तिर्यस्य स तथोक्तः । 'स्त्रियाः पुंवदि'ति पुंवद्भावः । प्रस्तुतमाहुः **वराङ्ग** इत्यादि । वराङ्गे शिरसि शिखिनां मयूराणाम् । अत्र पूर्वस्वरूपवद्धिकचत्वशङ्का भवेत्तन्निवृत्तये वराङ्ग इति । वरमङ्गं यस्य स वराङ्गः । रासस्त्रीभावपूरितविग्रहत्वा'द्वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् । दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्य' इति श्लोकोक्तभावेनेदमुक्तं विशेषणम् । पिच्छपटलैः पिच्छपरिच्छदैर्मुकुटाकारैः । बहुवचनं तासां मध्ये एकस्या एकस्या भगवानिति भगवतोबाहुल्यात् तदभिप्रायेणान्यपरिच्छदाभिप्रायेण च । तैः सह शृङ्गाररसात्मकं भूषणादि । तदुक्तं त्रिभङ्गललितस्तोत्रे 'उद्बुद्धशृङ्गाररसस्वरूपो भूषणाद्यपि । तादृगेवाखिलाङ्गेषु बिभ्रत् संराजते प्रभु'रिति । दधति धारयति पोषयति च भूषणादिकं भगवत्संबद्धमेव यया पुष्टं भवतीति । अन्यत्पूर्ववत् । अत्रापि रतिप्रादुर्भाव इत्यादि पुनः प्रार्थनं भक्त्या आदरेण च वीप्सारूपमिति ॥ ६ ॥ ७ ॥

कामकृतां लीलां वदन्तस्तं प्रार्थयन्ति दुरन्तमित्यादि ।

दुरन्तं दुःखाब्धिं हसितसुधया शोषयति यो
यदास्येन्दुर्गोपीनयननलिनानन्दकरणम् ।
अनङ्गः साङ्गत्वं व्रजति मम तस्मिन् मुररिपौ
रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे ॥ ८ ॥

तस्मिन् मुररिपौ रतिप्रादुर्भावस्तथेति योजना झटिति बुद्धावारोहति तथापि योऽनङ्गः साङ्गत्वं व्रजति तस्मिन्ननङ्गे साङ्गे रतिप्रादुर्भावस्तथेति योजनीयम् । मुररिपुत्वस्यागन्तुकत्वेन गुणशब्दत्वात् । अत्र कामपदं विहायानङ्गपदप्रयोगान्निराकारत्वशङ्का भवति, तद्वारणाय यः साङ्गत्वं व्रजति प्राप्नोतीत्युक्तम् । योऽनङ्गः साङ्ग इत्यनुक्त्वा साङ्गत्वं व्रजतीत्युक्तं तेन कदाचिन्निराकारत्वमपि भविष्यतीति ज्ञायते । या तु 'साकारब्रह्मवादैकस्थापक' इति श्रीमदाचार्यनाम्नः कथमेवमिति शङ्का सा पूर्वमेव निराकृता । कीदृशे स प्रार्थनीय इत्याकाङ्क्षायामाहुः **दुरन्त**मित्यादि । दुरन्तो यो दुःखाब्धिर्विरहतापरूपस्तं हसितमेव सुधा तया प्रत्यक्षं शोषयतीत्युक्त्या यथा सूर्यकिरणैर्जलशोषः तथायं शोषः । एवञ्च दुरन्तदुःखाब्धिर्हसितसुधायां लीनः सन् तद्रूपो जात इत्युक्तं भवति । तेन गोपीमदनमोहनयोरालम्बनविभावयोरपि परस्परसंयोगवत् विरहस्यापि व्यतिषङ्गो निरूपितः । न चैवं भगवतो दुःखित्वप्रसङ्ग इति वाच्यम् । चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे 'अस्यैव चोपपत्तेरूष्मे'त्यादिसूत्रभाष्ये विरहस्य ब्रह्मधर्मत्वेनोपपादनात् । विशेषोपि तत्र द्रष्टव्यः । यथा भक्तानां कामभावो न गच्छति तदर्थं हास इति 'प्रहस्य सदयं गोपी'रित्यस्य सुबोधिन्यामुक्तम् । 'हासो जनोन्मादकरी च माये'ति वाक्यात् भगवान् कार्यार्थं योगमायामुपाश्रयत इति 'योगमायामुपाश्रित' इत्यस्य सुबोधिन्यामुक्तम् । यस्यास्येन्दुर्गोपीनयननलिनानन्दकरणमसाधारणं कारणमेतादृशकामो मुररिपुरित्याशयेनाहुः **मुररिपा**विति । मुरस्य जलदोषात्मकस्य रिपुः, तेन यस्यास्येन्दुः सुधांशुर्निर्दोषः, न तु शशाङ्क इत्युक्तम् । श्रीपरिवृढसामानाधिकरण्ये हेतुश्चोक्तः । अथवा तस्मिन् मुररिपौ रतिप्रादुर्भावस्तथेत्येव योजना । उपसंहारसूत्रभाष्ये तद्धर्माणामुपसंहारस्य सिद्धत्वेनानङ्गेपि वक्ष्यमाणकार्यार्थं मुररिपुत्वमुपसंहृत्य श्रीपरिवृढसामानाधिकरण्ये हेत्वर्थं च मुररिपुत्वेन रूपेणानङ्गविशेष्यस्योपस्थापनात् । तथा च यथा 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' इत्यस्य सुबोधिन्यां यदुकुलसमुद्रासितमणिस्तासां दैन्ये प्रादुर्भूते तन्निवारणार्थं कामरूपमेव प्रकटीकृतवान्, तथा श्रीपरिवृढोप्यनङ्गरूपं प्रकटीकृतवान्, परन्तु यथा दोषरूपं मुरं तन्निरुद्धकन्यासु स्वप्राप्तिप्रतिबन्धकं निराकृत्य ता अङ्गीकृतवानेवं श्रीपरिवृढो यद्दिष्टं तत्र यः प्रतिबन्धस्तं निवार्य तदप्यङ्गीकरोति पूर्वं, पश्चादनङ्गरूपं प्रकटयतीति मुररिपुपदस्य विशेष्यीकरणाज्ज्ञायते । ततः पश्चात्साङ्गः । अयमपि श्रीपरिवृढ इत्याशयेनाहुः **श्रीपरिवृढ** इति । अन्यत् समानम् । अत्रापि तद्धर्माणामुपसंहारः पूर्वोक्तरीत्योपपादनीयः ॥ ८ ॥

यद्यपि 'सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते । शास्त्रादौ तेन कर्तव्यः संबन्धः सप्रयोजनः' इति ग्रन्थस्यापि शास्त्रत्वेनानुबन्धचतुष्टयमादौ वक्तव्यम्, तथापि ग्रन्थविस्तारभयादन्ते जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृत्त्वात्तदुपनिबध्नन्त एव स्तोत्रपाठफलमाहुः **इदं य** इत्यादि ।

इदं यः स्तोत्रं श्रीपरिवृढसमीपे पठति वा
शृणोति श्रद्धावान् रतिपतिपितुः पादयुगले ।
रतिं प्रेप्सुः शश्वत् कुवलयदलश्यामलतनौ
रतिः प्रादुर्भूता भवति नचिरात्तस्य सुदृढा ॥ ९ ॥

तस्य रतिः प्रादुर्भूता भवतीति पदसंबन्धः । कस्येत्याकाङ्क्षायामाहुः **इदं य** इत्यादि । **य** इति वर्णानियमो बोधितः । यः कोपीत्यर्थः । स्तोत्रं श्रीपरिवृढसमीप इत्यत्रार्थशब्दावादाय वाच्यवाचकभावः संबन्ध उक्तः । सर्वत्र श्रीपरिवृढ इत्यन्ते निर्देशाच्छ्रीपरिवृढशब्देन श्रीपरिवृढादयः सर्वे वाच्याः । यौगिकोप्ययं शब्द इति तच्छ्लोकोक्ता लीला अपि श्रीपरिवृढशब्देन वाच्याः रतिप्रादुर्भावप्रार्थनापर्यन्ताः । अयमेवात्र विषयः । अधिकारिणमाहुः **पठतीत्यादि । रतिपतिपितुः पादयुगल** इति । प्रेप्सुरधिकारी, परन्तु श्रद्धावान् सन् पठिता श्रोता वा रतिपतिः कामस्तज्जनकस्य । रासस्त्रीभावपूरितविग्रहत्वादेवमुक्तम् । रसो गुप्त एव वृद्धो भवतीति स्फुटं नोक्तम् । तदुक्तं 'अनाविष्कुर्वन्नन्वया'दित्यादिसूत्रभाष्ये । कामपितुः स्वरूपमप्याधिदैविकः काम इत्यपि ज्ञातुं रतिपतिपितृपदम् । तदुक्तं दशमस्कन्धे 'पितुरनवम' इत्यत्र 'आकृतावन्यून इत्यर्थः' । रतिपतिपदेन रतिदातृत्वं बोधितम् । किञ्च, प्रारम्भश्लोकोक्तस्य भगवतः स्वरूपं तु तत्र नोक्तं, तदप्यनेन बोधितम् । संयुक्तः काम इति । तदुक्तं 'रतिपतिं रमयाञ्चकारे'त्यस्य सुबोधिन्यां 'संयुक्तः कामो रतिपतिः, वियुक्तस्त्वग्निरूप' इति । तथा संयोगशृङ्गारः कामाकृतिः श्रीपरिवृढ इत्युक्तं भवति । श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः । कुवलयदलश्यामलतनौ कुवलयवत् श्यामला तनुर्यस्य श्रीपरिवृढस्य । अत्र प्रत्याहारन्यायेन संपूर्णं रूपं ज्ञातव्यम् । कुवलयमिन्दीवरं तद्दलानि परितःस्थितान्येकदेशभूतानि च नवकुवलयमतस्तद्दलानां च दृष्टान्तत्वं । तन्वोः श्यामलः श्यामः । किञ्च, भूमावपां प्रक्षेपे यो वर्णो भवति स श्यामलः । तदुक्तमष्टमस्कन्धे 'सचावनिज्यमानाङ्घ्रिः समन्तात् पयऊर्मिभिः । करोति श्यामलां भूमिं हरिन्मरकताश्मभि'रिति । हरिद्भिः पालाशवर्णैः । प्रयोजनमाहुः **रतिः प्रादुर्भूते**ति रतिप्रादुर्भावः फलम् । नचिरादिति पञ्चमी तु ल्यब्लोपे । अचिरकालं प्राप्यैव वा चिरकालमास्थायेति वेति ॥ ९ ॥

प्रश्वानन्दतनूकाष्ठाक्रियाप्राणा अनङ्गकः । श्रीभिर्लीलाः सदा कुर्वन्नष्टधा हृदयेस्तु मे ॥ १ ॥
स्मृत्वा श्रीवल्लभश्रीमद्विठ्ठलाचार्यवाक्यतः । दृष्ट्वा श्रीयदुनाथानामाज्ञयो विवृतिः कृता ॥२॥

इति श्रीगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरविरचिता परिवृढाष्टकविवृतिः संपूर्णा ।

१ कुर्वन् सप्तधेति पाठः । २ आग्रहादिति पाठः ।

भावैरङ्कुरितमितिपद्यव्याख्या ।

भावः प्रेम प्रणयः स्नेहो रागानुरागव्यसनानि ।
अङ्कुरकन्दलशाखापल्लवकलिकाप्रसूनफलानीति ॥

अथ श्रीमत्प्रभुचरणाः हरेर्भावात्मकस्य शृङ्गारोत्तररसात्मकस्य स्वरूपवैचित्र्यनिरूपणाय सकलफलप्रदत्वज्ञापनाय व्रजमात्रस्थितिसिद्ध्ये तदन्यत्रागमनाय तदेकार्थतावगतये तत्पोष्यत्वाय तत्सेचनाद्यधीनवृद्धिमत्त्वाय तच्छायादिसर्वोपयोगित्वाद्यर्थं फलरूपत्वेपि वृक्षत्वेनैकपद्येन निरूपयन्ति **भावैरिति** ।

भावैरङ्कुरितं महीमृगदृशामाकल्पमासञ्चितैः(तं)
प्रेम्णा कन्दलितं मनोरथमयैः शाखाशतैः संभृतम् ।
लौल्यैः पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितं
लीलाभिः फलितं भजे व्रजवनीशृङ्गारकल्पद्रुमम् ॥ १ ॥

अयमर्थः । श्रुतीनां वरदानप्रस्तावे प्रदर्शितं यद्रूपं भावात्मकं तत्तदानीमेव तासां हृदये प्रविष्टमत एव मनोरथो जातः । नहि भगवति हृदयानारूढे तद्विषयको मनोरथो भवति, ततस्तस्य हृदयस्थस्य प्रादुर्भावे तत्कालमेव नवीनोत्कटतापप्रादुर्भावो भवति, तदौत्कट्यं त्वतिभावनया भूयसा कालेन भवति । अत एव वरदाने प्रभुणापि फलप्राप्त्यधिकरणभूतः कालः सारस्वतकल्प उक्तः । 'कल्पं सारस्वतं प्राप्ये'ति वाक्यात् । एवं सत्याकल्पं भावनाभिः प्रभो रसात्मकस्य रसरीत्यैव बहिः प्रादुर्भावोभूद्भावितश्रीयशोदाधिकरणे स प्रकारोत्र निरूप्यते **भावैरङ्कुरितमिति** । आकल्पं कल्पमभिव्याप्य आसमन्तात् सञ्चितैर्भावैरात्यैव संवर्धितैः । **सिञ्चितैरिति** वा पाठः । सिञ्चितैः प्रादुर्भावपर्यन्तं स्वहृदय एव स्थापितैर्भावैः, कदा भगवान् प्रादुर्भविष्यतीति, एवंप्रकारैरङ्कुरितं श्रीयशोदायां गर्भरूपेणाविर्भूतं, यथाङ्कुरं पोषकापेक्षं द्रुमभवनाशाजनकं सङ्गोपितनिजाकारं भूमिशोभाजनकं स्वाश्रयसन्मानकारकं तथा गर्भरूपेणाविर्भूतो भगवानपीति तथाभूत इत्यर्थः । ननु कल्प(द्रुमः) स्वर्गे आनन्दप्रधाने तिष्ठति भगवाँस्तु भूमाविति कथं तत्तुल्यतेत्याशङ्क्याहुः **महीमृगदृशामिति** । स्त्रियो हि आनन्दप्रधानास्तत्रापि भूमिष्ठास्तत्रापि सुन्दर्यस्तत्रापि चपलतरविशाललोचनयुगला ज्ञानशक्तिपूर्णा भावदृष्टयः । तथाच यथा देवानामानन्दानुभवकर्तॄणामलौकिकानां भाग्यैः स्वर्गे कल्पवृक्ष उद्गतः, तथा स्वर्गकोटिभ्योप्युत्तमे व्रजेऽसाधारणानन्दानुभवकर्त्रीणां भाग्यैरत्रापि कल्पद्रुमोयमुद्भूत इत्यर्थः । एवमङ्कुरमभिधाय कन्दलभावमाहुः **प्रेम्णा कन्दलितमिति** । प्रेम्णा प्राथमिकभावेन भगवन्तमाविर्भूतं द्रक्ष्याम इत्याकारकरुचिजनकदिदृक्षारूपेण गेहदेहादिरागनाशकेन कन्दलितं कन्दलं सञ्जातं यस्येति तथा, पुष्टगर्भरूपं भगवन्तमित्यर्थः । पुष्ट एव गर्भे एवं दिदृक्षाहेतुकरुच्युत्पत्तेः । एवं कन्दलभावमुक्त्वा शाखाशतत्वेन तद्भावमाहुः **मनोरथमयैः शाखाशतैः संभृतमिति** । आविर्भावोत्तरं भगवति दृष्टे ये ये मनोरथा उत्पन्नाः करचरणाः प्रत्यङ्गेषु स्वयोग्यप्रकारकभावनारूपास्त एव भावात्मकस्य भगवतोऽवयवभूता इति

तन्मयैः शाखाशतैरनन्तमूर्तित्वात् भगवतस्तैः संभृतं सञ्चितं सम्यक् भृतं पुष्टं वेत्यर्थः । एतेनैतद्भावात्मक एव भगवान् भावमात्राकार इति निरूपितम् । एवं शाखाभावमुपपाद्य पल्लवभावमाहुः **लौल्यैः पल्लवितमि**ति । लौल्यैः बाललीलादिषु मुग्धभावावलोकनेन स्वानुरूपकृतिप्रकटनरूपैरखिलाङ्गचापल्यैः स्वामिनीनां पल्लवितं पल्लवभावं प्राप्तमित्यर्थः । यथा पल्लवाः प्रतिशाखमनन्तास्तच्छोभाकराश्च, तथा भगवतः सर्वाङ्गेषु लौल्यानि संबद्धान्यसङ्ख्यातानि तदवयवशोभाकराणीति तथेति भावः । एवं पल्लवभावमुपपाद्य कुसुमभावमाहुः **मुदा कुसुमितमि**ति । भगवद्दत्तया मुदा 'चिक्रीडे जनयन् मुदमि'ति वाक्यनिरूपितया कुसुमितं कलिकारूपकुसुमयुक्तमित्यर्थः । यथा कुसुमोदयः फलोदयहेतुः मकरन्दरससुगन्धताद्रूप्यभ्रमरसाहित्यसंभूतशब्दस्पर्शादिसर्वविषयानुभवहेतुरवान्तरफलरूपश्च, तथा भगवतोपि तद्विषयकमुज्जननहेतुकभावोऽपि तादृश एव मुग्धभावसाहित्येन कलिकारूपश्चेति भावः । एवं कलिकाभावमभिधाय पुष्पभावमाहुः **प्रत्याशया पुष्पितमि**ति । भावदर्शनेन या फलं प्रत्याशा 'एवं कुर्वन् प्रभुः सर्वानभिप्रायान् मनोगतान् । कामरूपतयाऽस्माकं पूरयिष्यति निश्चित'मेवंरूपा, तयार्तिरूपया स्वतापसंबन्धेन पुष्पितं विकसितकुसुमयुक्तमित्यर्थः । यथा पुष्पं रविकिरणसंबन्धादुन्मुद्रितमाविर्भूतमकरन्दं च भवति, तथा भगवानप्येतदार्तिभावमवलोक्य स्वधर्मान् तादृक्चेष्टारूपान् प्रकटयतीति तथेति भावः । एवं पुष्पभावं निरूप्य फलभावमाहुः **लीलाभिः फलितमि**ति । वने भवने च निलायनादिलीला आरभ्य रासान्ताभिः स्वरूपानन्ददानात्मिकाभिः फलितं फलयुक्तं जातमित्यर्थः । यथा फलं स्वोत्पत्तौ इतराकाङ्क्षानिवारकं सर्वानन्दानुभावकं सेवासार्थकत्वकृत् , तथा भगवानपि मनोरथानन्दप्रदाने भक्तानां तथा जात इति भावः । एतेन स्वरूपस्य सर्वदा फलरूपस्याप्येवंभावे भक्तान् प्रति फलत्वमिति निरूपितम् , तथा भगवतोपि लीलयैव फलमिति पर्यवस्यतीति भावः । तादृशं **शृङ्गाररसात्मकं कल्पद्रुमं भजे** । अयमर्थः । यथाम्रादिषु द्रुमेषु भिन्नो भिन्नो रसः तत्तद्रसात्मकाश्च ते ते वृक्षाः इति वृक्षत्वे प्रकृतेपि कश्चन रसोऽपेक्ष्यः । तदर्थं शृङ्गार एव भगवति रसः, तदात्मकश्च सः इति शृङ्गार एव यः कल्पद्रुमः सर्वदानसमर्थः सदातनो निखिलोपास्यो भाग्यवदेकलभ्यो वृक्षस्तद्रूपं प्रभुं भजे । चेतस्तत्प्रवणरूपया सेवया निरन्तरं भावये हृद्यनुभवामीत्यर्थः । ननु कल्पद्रुमस्तु दुर्लभः स्वर्गस्थत्वात् , तथा भगवान् भूमौ प्रकटत्वेनानेकजनप्रत्यक्षविषयत्वात् सुलभ इति कथं तत्तुल्य इति चेत्तत्राहुः **व्रजवनी**ति । व्रजवन्याः संबन्धिनं तमित्यर्थः । व्रज एवात्यन्तदुर्लभः । भगवतोपि गुप्ततया स्थितिस्थानत्वात् सर्वथाङ्गीकृतत्वाच्च । तत्रापि वनी वनस्य ततोपि गूढत्वात् । स्त्रीलिङ्गप्रयोगेण तु परमदुर्लभत्वं सूचितम् । तथाचैतादृशस्थलवर्तिवृक्षस्य प्रभोः स्वर्गस्थकल्पद्रुमतोप्यतिगूढतेति सर्वमवदातम् ।

एवं निजाचार्यतदात्मजाततदात्मजाताश्रयमात्रचेतसा ।
निरूपितस्तत्कृतपद्यभावस्तेनात्मदासेतिदयां दधाति ॥ १ ॥

इति श्रीहरिदासविरचिता भावैरङ्कुरितमितिपद्यव्याख्या समाप्ता ॥